संसारी अवस्था में आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए व्यवहार और निश्चय दोनों नयों की अपेक्षा रखने पर ही उसका यथार्थ ज्ञान हो सकता है। जीव की संसार दशा कर्म सापेक्ष है। कर्मोदय आदि को लेकर व्यवहार नय से वह जीव कहलाता है। यदि व्यवहारनयाश्रित जीव का स्वरूप सर्वथा मिथ्या माना जाए तो जीव दया या जीव हिंसा दोनों अवस्तु हो जाएँगी और ऐसी स्थिति में हम जीव का स्वरूप ठीक-ठीक न समझ सकेंगे। क्योंकि त्रस, स्थावर आदि भेद व्यवहार नय से माने जाते हैं। जिन की रक्षा श्रावक और मुनि करते हैं तथा इनका वध करने वाला हिंसक कहलाता है। हिंसा पाप और दया धर्म व्यवहार नयाश्रित ही है। द्रव्यसंग्रह कर्त्ता ने व्यवहार नय से जीव उसे कहा है कि जो इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास—इन चार प्राणों से सहित हो। यह कर्म सापेक्षता से जीव के स्वरूप का कथन है। यह समीचीन व्यवहारनय है। नय वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक है चाहे वह एक देश का क्यों न हो। जीव अनादि से नर-नारकादि पर्यायों में पाया जाता है। उसकी पर्याएं असत्यार्थ नहीं हैं। ये कर्मनिमित्तक विकारी अवस्थायें हैं। यद्यपि ये जीव के स्वभाव रूप नहीं हैं; किन्तु काल्पनिक भी नहीं हैं। पर संयोग दृष्टि को गौण कर जीव को निश्चय नय की दृष्टि से देखें तो जीव के शुद्ध स्वरूप याने चैतन्य स्वरूप का भी भान हो सकता है। इसी दृष्टि से द्रव्य संग्रहकार ने व्यवहार नय के साथ ही निश्चय नय से भी जीव का चेतना प्राण बता दिया है। इस प्रकार कर्म जन्य विकार—प्राण सहित होना भी जीव में अनादि परम्परा से है और जीव का चैतन्य स्वभाव भी अनादि अनन्त है। इनको बताने के लिए ही दोनों नयों का समीचीन दिग्दर्शन ग्रन्थकर्त्ता ने किया है। इस जीव के अनेकांत स्वरूप को जान लेने पर कोई भी चतुर्गति वाला पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्तक, भव्य और सर्वविशुद्ध प्राणी भेदज्ञानी होकर सम्यग्दृष्टि बन सकता है। क्योंकि व्यवहार से वह अपने कर्म जन्य विकारों को और निश्चय से अपने ज्ञायक स्वभाव को पहिचानते हुए विकार दशा को बदल कर शुद्ध अवस्था प्रकट कर सकता है।

'समयसार' आदि में व्यवहार नय को अभूतार्थ या असत्यार्थ तथा निश्चय नय को भूतार्थ या सत्यार्थ बताने का प्रयोजन भी यही है कि संसार अवस्था व्यवहार नय से सत्यार्थ होकर भी हेय है अतः निश्चय दृष्टि से सत्यार्थ नहीं है; क्योंकि परनिमित्त पर दृष्टि रखने और उस पर्याय को आत्मा मानने से ही यह जीव अनादि काल से संसार परिभ्रमण कर रहा है। पर्याय दृष्टि को इसीलिए मिथ्यादृष्टि कहा है। किन्तु अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव का, जो संसारावस्था में प्रत्येक प्राणी में शक्ति रूप में विद्यमान है, आश्रय लेने से जीव अपना कल्याण कर सकता है। यही परम शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि है। श्री पं. जयचन्दजी ने जिन्होंने द्रव्यसंग्रह की हिन्दी वचनिका लिखी है अपनी बारह भावनाओं में अनित्य भावना के स्वरूप दर्शन में निम्न छंद लिखा है कि—

'द्रव्य रूप कर सर्वथिर [illegible]

श्री गोम्मटेश संस्तवन !

भगवन्नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती विरचित प्राकृत स्तुति का भावानुवाद

मुकुलित नील कमल दल सम है जिनके सुन्दर नेत्र विशाल ।
शरदचन्द्र शरमाता जिनकी निरख कांत छवि उन्नत भाल ।।
चम्पक पुष्प लजाता लखकर ललित नासिका गुणगणधाम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बारंबार प्रणाम ।।

पयसम विमल कपोल, झूलते कर्ण कंध पर्यंत नितांत ।
सौम्य सातिशय सहज शांति प्रद वीतराग मुद्रा निर्भ्रांत ।।
हस्तिशुंड सम सबल भुजाएँ बन कृतकृत्य करें विश्राम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत शत बार विनम्र प्रणाम ।।

ग्रीवा की सुषमा पर बलि बलि जाते स्वर्ग सौन्दर्य विशाल ।
दृढ़ स्कंध नम्र हुआ पराजित हिमगिरि का भी उन्नत भाल ।।
जग जन मन आकर्षित करती कटि सुपुष्ट जिनकी अभिराम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शतशः बारंबार प्रणाम ।।

विंध्याचल के उच्च शिखर पर हीरक ज्यों दमके जिन भाल ।
तप पूत सर्वांग सुखद हैं आत्मलीन जो देव विशाल ।।
वर विराग प्रासाद शिखामणि भुवन शांतिप्रद चंद्र ललाम ।
विश्व वंद्य उन गोम्मटेश प्रति बारंबार विनम्र प्रणाम ।।

वल्लारियाँ निर्भय बन लिपटीं पाकर जिनकी शरण उदार ।
भव्य जनों को सहज सुखद हैं कल्पवृक्ष सम सुख दातार ।।
देवेन्द्रों द्वारा अर्चित हैं जिन पादारविंद अभिराम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत शत बार विनम्र प्रणाम ।।

निष्कलंक निर्ग्रंथ, दिगम्बर, भय भ्रमादि परिमुक्त नितांत ।
अम्बरादि आसक्ति विवर्जित निर्विकार योगीन्द्र प्रशांत ।।
सिंह, स्याल, शुंडाल, व्यालकृत उपसर्गों में अटल अकाम ।
विश्व वंद्य उन गोम्मटेश प्रति शतशः बारंबार प्रणाम ।।

जिनकी सम्यग्दृष्टि विमल है, परम तत्व विज्ञान अक्षीण ।
ऐहिक सुख वांछा से विरहित, दोष मूल अरि मोह विहीन ।।
बन संपुष्ट विराग भाव से लिया भरत प्रति पूर्ण विराम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत शत बारंबार प्रणाम ।।

अंतरंग बहिरंग-संग, धन-धाम विवर्जित विभु संभ्रात ।
समभावी मद मोह विवर्जित काम क्रोध उन्मुक्त नितांत ।।
किया वर्ष उपवास मौन रह 'बाहुबली' चरितार्थ सुनाम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति बारंबार विनम्र प्रणाम ।।

—नाथूराम डोंगरीय जैन

प्राक्कथन

ग्रंथ और ग्रंथकर्ता

वृहद्‌द्रव्यसंग्रह प्राकृत भाषा में निबद्ध भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक जैन दर्शन का एक लघुकाय किन्तु सार-गर्भित एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। जैन समाज में वृहद्‌द्रव्यसंग्रह के नाम से पठन-पाठन बड़ी श्रद्धा और भक्तिपूर्वक किया जाता है। प्रचलित परम्परानुसार इसके रचयिता गोम्मटसार, त्रिलोकसारादि सिद्धान्त ग्रंथों के निर्माता एवं श्रवण-बेलगोला में विराजमान भगवान् बाहुबली के विशाल बिम्ब के प्रतिष्ठापक तथा तत्कालीन राजा चामुण्डराय के गुरु आचार्य प्रवर श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। द्रव्यसंग्रह के हिन्दी में आद्यवचनिका एवं भाषा पद्यानुवाद कर्ता स्व. पं. जयचन्दजी छाबड़ा ने अब से करीब पौने दो सौ वर्ष पूर्व अपनी कृति में इन्हीं आचार्य को द्रव्य संग्रह का मूलकर्ता माना है तथा इसकी ब्रह्मदेव सूरि कृत संस्कृत टीका के हिन्दी टीकाकार श्री पं. जवाहरलाल जी शास्त्री ने भी ग्रंथ की प्रस्तावना में सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र का ही ग्रंथकर्ता के रूप में उल्लेख किया है। इनका समय विक्रम सं. १०३५ (ग्यारहवीं शताब्दी) है। किन्तु, ग्रंथ की संस्कृत टीका के कर्ता श्रीमद् ब्रह्मदेव सूरि ने ग्रंथकर्ता नेमिचन्द्र आचार्य की उपाधि का उल्लेख "सिद्धान्त चक्रवर्ती" न कर "सिद्धान्तिदेव" के नाम से किया है। हो सकता है कि कालान्तर में सिद्धान्त-चक्रवर्ती को ही मान देकर संक्षेप में "सिद्धान्तिदेव" कहा जाने लगा हो।

आधुनिक इतिहासज्ञ मनीषियों की शोध खोज के अनुसार नेमिचन्द्र नाम के तीन आचार्य हुए हैं। जिनमें प्रथम राजा चामुण्डराय के गुरु सिद्धान्तचक्रवर्ती के पद से अलंकृत थे। दूसरे नेमिचन्द्र वसुनंदि सिद्धान्तिदेव के गुरु थे, जो प्रथम (सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र) से करीब ९० वर्ष पश्चात् हुए और जिनका समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी निश्चित होता है। ये सिद्धान्तिदेव के पद से विभूषित थे। तीसरे नेमिचन्द्र गोम्मटसार (प्राकृत) की संस्कृत टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका के निर्माता थे। अस्तु,

वस्तुतः इस ग्रंथ के रचयिता कौनसे नेमिचन्द्राचार्य थे इसका निर्णय इतिहास के पुष्ट प्रमाणों से ही हो सकता है, किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि मूल ग्रंथ-कर्ता का शुभनाम श्रीमत् नेमिचन्द्राचार्य है और चूंकि वे वीतरागी संत थे, अतः ग्रंथ की प्रामाणिकता एवं उपादेयता भी असंदिग्ध है।

ग्रंथ की विशेषता एवम् वर्तमान संदर्भ में उपयोगिता

यह है कि इसमें जीवादिक द्रव्यों, आस्रवादि तत्त्वों एवं मोक्षमार्ग का निरूपण व्यवहार तथा निश्चय—उभयनय सापेक्ष (प्रायः प्रत्येक गाथा में साथ २) किया गया है—ताकि अनेकांतमयी वस्तुतत्त्व का संक्षेप में यथार्थज्ञान प्राप्त कर मानव आत्म कल्याण की ओर अग्रसर हो सके तथा सर्वथा निश्चयैकांत या व्यवहारैकांत के आश्रय से कदाग्रही बन कर एकांत-मिथ्यात्व के कुचक्र में न फँसे। अतः इसका निष्पक्ष एवं जिज्ञासुभाव से अध्ययन करने पर अनेक भ्रांतियों का—जो नयों की खींचतान से उत्पन्न हो रही या हो सकती हैं—सहज ही निराकरण भी हो जाता है।

आज समाज के अधिकांश विद्वज्जनों पत्र-पत्रिकाओं, धर्म-सभाओं एवं घर-घर में पिता पुत्र से, भाई-बहिन से पति-पत्नी से तथा एक धर्मबन्धु इतर धर्मबंधु से विभिन्न नयों द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप के संबंध में सर्वथा एकांत दृष्टि पक्ष को ग्रहण कर विसंवाद करता दिखाई दे रहा है—और इस प्रकार दृष्टि मोह वश दुराग्रही बन कर अपने प्रिय नय पक्ष को ही पूर्ण सत्य एवं इतर पक्ष को सर्वथा मिथ्या मान व प्रतिपादन कर वस्तु के अनेकांतमयी स्वरूप एवं उसके भगवद्वाणी द्वारा स्याद्वाद रूप प्रतिपादन का खंडन वा उपहास करने में अपनी अज्ञतावश (स्वयं को सर्वज्ञ मान) तनिक भी संकोच नहीं कर रहा।

अनेक विद्वज्जन भी वीतराग वाणी का वीतराग भाव से प्रतिपादन न करते हुए पक्ष व्यामोह के कुचक्र में पड़ कर अनेकांत और स्याद्वाद की सत्यतापरक गरिमा को भुला कर या जानबूझकर अथवा अज्ञतावश (जाने-अनजाने) अनेकांतमयी वस्तु स्वरूप का स्याद्वाद रूप प्रतिपादन करने से दिनोंदिन विमुख होते जा रहे हैं। इससे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैन-सिद्धांत या तो अन्य सांख्य वेदान्तादि दर्शनों के समान सर्वथा एकांतपरक है (जैसा कि प्रतिपादन किया जा रहा है) और या भगवान् ने जो अनेकांत को परमागम का प्राण तथा नयों के विभिन्न विषयों संबंधी परस्पर विरोध को मथन करने वाला प्रतिपादन किया है वह शायद ठीक नहीं है या फिर जैन सिद्धांत अभी अनिर्णीत और विवादास्पद है, जिसका निर्णय होना शायद अभी शेष है।

जैसे—जिस स्याद्वाद प्रणाली द्वारा दुनिया के मत-मतांतरों के सर्वथा एकांत पक्षरूप [illegible] विवादों का निर्मूलन कर सत्य और समन्वय के उदार दृष्टिकोण द्वारा [illegible] निर्माण एवं विश्वबन्धुत्व की भावना के प्रचार-प्रसार से [illegible] के पारस्परिक सद्भाव एवं विश्व में सत्य व शांति की प्रतिष्ठा करने [illegible] है—वही स्वयं ही [illegible]। [illegible] परस्पर में [illegible] और आश्चर्य होता है।

प्रत्येक वस्तु के अनेकांतात्मक (निश्चय-व्यवहारात्मक) होने से निश्चय और व्यवहार नय उसका यथार्थ ज्ञान कराने के साधन हैं, अत: निष्पक्ष भाव से उभय नयों द्वारा वस्तु का—जैसी कि वह है—ज्ञान करना—कराना ही हितकर, प्रामाणिक व सत्य हो सकता है, न कि एक नय की सर्वथा एकांतदृष्टि से। श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुपार्थसिद्धुपाय में नयों की एकांत परक खींचतान करने वालों को इसीलिए चेतावनी देते हुए लिखा भी है :—

"अत्यंत निशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्।।५९।।

अर्थात् जिनेन्द्र का नयचक्र अत्यंत तीक्ष्ण धारवाला होने से बड़ी सावधानी से प्रयोग करने योग्य है; क्योंकि इसका खींचतान कर विवेक विना प्रयोग करने वालों के मस्तक को यह तुरंत ही विदीर्ण कर डालता है अर्थात् उन्हें निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी अथवा उभयाभासी वना कर सद्ज्ञान का विघात कर मार्गभ्रष्ट कर डालता है।

तात्पर्य यह कि जैनसिद्धांत वैज्ञानिक सत्य पर आधारित है और वह सत्य अनेकांतात्मक है, जवकि प्रत्येक नय यदि वह सुनय है तो वह इतर नय सापेक्ष होकर ही सत्य का द्योतक कहा जाता है और यदि वह इतर नय निरपेक्ष है अर्थात् अन्य सुनय द्वारा प्रतिपादित वस्तु में विद्यमान अन्य (दूसरे) धर्म को गौण न करते उसका निषेध कर उसे झुठलाने और खंडन करने लगता है तो वह एकांत मिथ्यात्व का पोषक दुर्नय वन जाता है। परमपूज्य स्वामी समन्तभद्र ने निम्नलिखित श्लोकांश द्वारा इसी तथ्य को प्रकट किया है :—

"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु ते/ र्थकृत्।"

अर्थात् कोई भी नय इतर नय निरपेक्ष होकर मिथ्या वन जाता है और सापेक्ष होकर वस्तु के स्वरूप का प्रकाशक।

भगवान् महावीर ने अनेकांतात्मक वस्तु को एक नय द्वारा वस्तु में विद्यमान एक धर्म को मुख्य तथा शेष धर्मों को गौण (न कि निषेध) कर प्रतिपादन करने की रीति एवं नीति को ही वस्तु स्वरूप का यथार्थ वोध कराने वाला कहा है—जैसा कि पुरुपार्थसिद्धयुपाय के अंतिम पद्य में श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने दर्शाया है :—

"एकेनाकर्पन्ती श्लथयंती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अंतेन जयति जैनीनीतिर्मंथाननेत्रमिव गोपी।।"

अर्थात् जिस प्रकार गोपिका दही से मक्खन निकालने के लिए मथानी की रस्सी के एक छोर को अपनी ओर खींचती व दूसरे छोर को ढील देते हुए भी पकड़े रह कर फिर उसे अपनी ओर खींचती व प्रथम को ढील देती है एवं अपनी

ध्रौव्य, एक, शुद्ध, अभेद रूप में तथा व्यवहार नय के द्वारा उसी के अस्थायी अंश (पर्याय) को ग्रहण कर उत्पाद व्ययात्मक अशुद्ध, अनेक या भेद रूप में प्रतीत होती है। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" एवं—"सद्द्रव्यलक्षणं" इन सूत्रों द्वारा वस्तु के इस अनेकांतमयी स्वरूप का ही यथार्थ सूत्रकार ने प्रतिपादन किया है। "अर्पितानर्पित सिद्धेः" अर्थात् प्रयोजनवश कभी पर्यायों को गौण कर द्रव्य की मुख्यता से उसका (वस्तु का) नित्य (ध्रुव) रूप कथन और कभी पर्यायों की मुख्यता से द्रव्य दृष्टि को गौण कर पदार्थ का अनित्य रूप (उत्पादव्ययात्मक) कथन कर वस्तु में कथंचित् नित्यता और अनित्यता की सिद्धि होती है जैसा कि प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक या नित्यानित्यात्मक स्वतः सिद्ध है। न तो वस्तु में—नित्यता असत्य है और अनित्यता। यही बात भेद-अभेद, बद्ध-अबद्ध, शुद्ध-अशुद्ध आदि दृष्टियों से भी लागू होती है। उदाहरण के रूप में प्रत्येक जीव चैतन्य (चेतन्य) सामान्य की दृष्टि से (अर्थात् द्रव्य के गुण पर्याय से रहित) शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा शुद्ध है, किंतु व्यवहार नय से कामी, क्रोधी, मानी आदि कोई संसारी है और कोई परमात्म दशा को प्राप्त अर्हन्त या सिद्ध है। इसी प्रकार भेद-अभेद आदि दृष्टियों से भी वर्णन किया जाता है। अपने-अपने विषय को मुख्य और शेष को गौण कर कथन करने वाले इस प्रकार सभी नय सत्य हैं। न तो पर्याय दृष्टि से जीव का संसारी या मुक्तपना झूठा है और न चैतन्य दृष्टि से उसका शुद्ध चैतन्य पना। इसी प्रकार भेद दृष्टि से जो संसारी है वह मुक्त नहीं, जो देव है वह मनुष्य नहीं। अभेद दृष्टि से मनुष्य भी जीव है देव भी, तथा संसारी भी और मुक्त भी।

आधुनिक युग में कुछ मनीषी उत्पादव्ययात्मक पर्यायों को आत्मा या वस्तु से सर्वथा भिन्न व मिथ्या मान उनको विषय करने वाले व्यवहार नय को भी सर्वथा मिथ्या मान व घोषित कर अपने को सम्यग्दृष्टि मान रहे हैं। वे यहाँ तक मानते और प्रतिपादन करते हैं कि जो अपनी शुद्ध पर्याय को भी अपनी मानता है वह मिथ्या दृष्टि है। यह गुरु विरुद्ध भ्रमपूर्ण मान्यता अनेकांत सिद्धांत का स्पष्टतया अपलाप है। क्या कोई भी वस्तु या आत्मा कभी भी पर्याय रहित होती या हो सकती है? पर्यायें शुद्ध और अशुद्ध परिस्थिति के अनुसार हो सकती हैं और हैं। किंतु वे हैं द्रव्य की ही। न तो कभी द्रव्य पर्यायों से भिन्न या शून्य होता है और न पर्यायें ही स्वतंत्र रूप में द्रव्य से भिन्न कभी और कहीं उत्पन्न होती या हो सकती हैं। आखिर पर्यायें स्वतंत्र वस्तु न होकर द्रव्य का परिणमन ही तो है, जो कि वस्तु का स्वभाव है।

यह अलग बात है कि द्रव्य दृष्टि द्रव्य की पर्यायों को गौण कर मात्र द्रव्य (वस्तु) को एक अखंड दृष्टि से देखती है, उस समय पर्यायें लक्षित नहीं होतीं; किंतु पर्याय उस समय उसमें (द्रव्य में) है नहीं—या यदि है तो वह द्रव्य की नहीं है, यह कैसे कहा या माना जा सकता है? उदाहरण के रूप में एक सोने का

"उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं॥"

अर्थात् उत्पाद स्थिति (ध्रौव्य) और विनाश पर्यायों में रहते हैं और निश्चय करके वे पर्यायें द्रव्य में रहती हैं। इस कारण निश्चित रूप में वे उत्पाद व्यय ध्रौव्य सभी पर्यायें द्रव्य ही हैं।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि में आगे उन्होंने गाथा नं. १०२ से १०५ तक इसी सत्य और तथ्य को निरूपित कर और भी स्पष्टीकरण किया है।

यहां आचार्य महोदय ने न केवल उत्पाद व्यय स्वरूप अंशों को ही पर्याय माना है; प्रत्युत् ध्रुवांश को भी पर्याय ही मान कर द्रव्य को पर्यायों का समूह प्रतिपादित किया है। यदि पर्यायों और उनमें भी अपनी शुद्ध पर्यायों को सम्यक्-दृष्टि अपनी नहीं मानता तो किस को मानता है ? यदि वह अपनी शुद्ध पर्याय को अपनी मानने से मिथ्यादृष्टि हो जाता है, तब आचार्यश्री का उक्त कथन ही मिथ्या सिद्ध होगा जो कि इनकी मान्यता से सर्वथा मेल नहीं खाता और आचार्य श्री के कथन को मिथ्या तथा इन मनीषियों के कथन को सम्यक् मानकर श्रद्धान करना संभव नहीं है; क्योंकि वह सत्य और तथ्य शून्य होकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी विरुद्ध है। वास्तविकता यह है कि द्रव्य दृष्टि से देखने पर पर्यायें केवल गौण हो जाती हैं; क्योंकि उस समय पर्यायों पर लक्ष्य नहीं होता। किंतु द्रव्य स्वयं न तो उस समय पर्यायविहीन होता है और न पर्यायें ही कभी द्रव्य विहीन होती हैं।

यहां प्रश्न हो सकता है कि तब फिर शास्त्रों में पर्याय दृष्टि को मिथ्या-दृष्टि क्यों कहा ?

समाधान यह है कि पर्याय को द्रव्य की जानने या पर्यायों पर दृष्टि डालने वालों को मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है। बलिक उस व्यक्ति को मिथ्यादृष्टि कहा है कि जो केवल मनुष्य, देवादि शरीर युक्त जीव की संयोगी पर्याय मात्र को ही आत्मा मानकर अपने त्रैकालिक चैतन्य स्वरूप आत्म द्रव्य को न समझता हुआ देह को ही

आत्मा समस्त भ्रमित हो रहा है। अर्थात् मनुष्यादि अशुद्ध पर्यायों में अहंकार ममकार करता हुआ अपने शुद्ध नय के विषयभूत चैतन्यमयी वास्तविक रूप को भुला देता है और अपने ही आत्मिक गुण पर्यायों के स्वरूप को न जानता हुआ संयोगी पर्याय में ही मुग्ध हुआ उसे अपना स्वरूप मान तादात्म्य अपनी श्रद्धा कर लेता है। प्रवचनसार की गाथा ९३ और ९४ में इसी तथ्य को मूल ग्रंथकर्ता आचार्यश्री ने तथा उनके टीकाकारों ने स्पष्ट भी किया है।

इस सन्दर्भ में पाठकों को यह जिज्ञासा होना भी संभव है कि समयसार गाथा क्रमांक २७२ में भगवत्कुन्दकुन्द ने निश्चयनय द्वारा व्यवहार नय को प्रतिषिद्ध बताया है एवं निश्चय नय के आश्रित मुनियों को निर्वाण का पात्र माना है तथा समयसार कलश टीका में श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने श्लोक क्रमांक १७३ 'सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलंत्याज्यं यदुक्तं जिनैः' आदि में अन्याश्रित समस्त व्यवहार को त्याज्य बता कर संतों को निश्चय का आश्रय लेने की प्रेरणा की है। ऐसा क्यों?

समाधान यह है कि उल्लिखित गाथा और कलश-समयसार के बंध अधिकार में स्थित है। तथा बंध से मुक्ति प्राप्त करने में संलग्न मुनियों को शुद्धोपयोग की प्राप्ति हेतु (निचली अवस्था से उच्च श्रेणी में पहुंचने के लिए) पराश्रय से होने वाले नाना प्रकार के शुभाशुभ विकल्पों (अध्यवसानों) को हेय जान त्याग करना-जो कि व्यवहार नय के विषय हैं, आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है अतः उनका त्याग कर शुद्धोपयोगी (आत्म लीन) बनने की आचार्यों ने मुनियों को प्रेरणा की है। दूसरे शब्दों में पराश्रित समस्त व्यवहार को छोड़ कर स्वाश्रित निश्चय धर्म के आश्रय से निर्वाण प्राप्त करने की शिक्षा दी है।

उन्होंने यह नहीं कहा कि व्यवहार नय के विषयभूत अध्यवसानों का अस्तित्व ही नहीं है या वे झूठे हैं अथवा व्यवहार नय मिथ्या है। नीचे से ऊपर उठने-संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए व्यवहार नय के विषय भूत जीव में जो रागादि भावरूप अध्यवसान हुआ करते हैं—चाहे वे शुभ भी हों—उन्हें त्याग कर निर्वाण प्राप्ति के लिए शुद्धोपयोगी बनने को प्रेरित किया है।

तात्पर्य यह कि वस्तु स्वरूप को जानने के लिए दोनों सत्य नयों का उपयोग करना चाहिए जिससे वस्तु का शुद्धाशुद्ध या द्रव्यपर्यायमयी रूप जाना जा सके। किंतु ज्ञान होने के पश्चात् हेय उपादेय का निर्णय कर क्या त्यागना और क्या ग्रहण करना है, यह जान अनिष्ट को त्याग कर आत्महित के लिए इष्ट तत्त्व को ग्रहण कर लेना चाहिए। यही आचार्यों का आशय है। चूंकि समयसार में यत्र तत्र मुनियों को ही संबोधन कर कथन किया गया है इसलिए उन्हें यह (शुद्धोपयोग) साक्षात् तत्काल उपादेय एवं गृहस्थों को उसका लक्ष्य बनाए रख कर अशुभ प्रवृत्ति का

मुख्यता को लेकर उसके प्रगट करने के अभिप्राय को नय कहते हैं। प्रत्येक वस्तु अनेकांतात्मक—अपने अनंत गुणों और पर्यायों का अखंड पिंड है। अतः उसको प्रमाण द्वारा वैसा ही जानकर उसमें विद्यमान एक गुण, धर्म या पर्याय को मुख्य तथा शेष को गौण कर कथन करने को स्याद्वाद कहा जाता है। प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष के भेद से दो भेद हैं। इन्द्रियों और मन आदि पर वस्तु की सहायता से होने वाला यथार्थ ज्ञान परोक्ष प्रमाण है तथा बिना किसी की सहायता के आत्मिक शक्ति से प्रकट होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

नय के भी मुख्य दो भेद हैं—(१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक। द्रव्य-गुण-पर्याय के अखंड पिंड स्वरूप वस्तु को द्रव्य की मुख्यता से जानने या कथन करने को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। पर्यायों या गुणों को वस्तु के अंश या भेद रूप में ग्रहण कर जानने या कथन करने को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। नैगमसंग्रहादि इन्हीं नयों के भेद हैं। अध्यात्म ग्रन्थों में इन्हीं नयों का निश्चय और व्यवहार नय के नाम से प्रतिपादन एवं प्रयोग किया गया है—द्रव्यार्थिक को निश्चय व पर्यायार्थिक को व्यवहार। इनमें निश्चय नय को प्रायः भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा गया है।

भूतार्थ शब्द—भूत + अर्थ, इस प्रकार दो शब्दों के योग से बना है। भूत शब्द के अनेक अर्थ हैं—हित, सत्य, द्रव्य, जीव, प्रेतयोनि, अतीतकाल, मूलतत्त्व आदि। इसी प्रकार अर्थ शब्द भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है जैसे—प्रयोजन, अभिप्राय, धन, हेतु, विषय आदि। यहाँ किस अर्थ में भूत या अर्थ शब्द का प्रयोग किया गया है, यदि इस पर विचार करें तो प्रकरण को देखते हुए भूत शब्द द्रव्य वाचक एवं अर्थ शब्द विषय या प्रयोजन वाचक सुसंगत प्रतीत होता है। तदनुसार द्रव्य (सामान्य) है प्रयोजन या विषय जिसका वह भूतार्थ नय है और जिसका विषय द्रव्य नहीं है—पर्यायादि विशेष हैं वह अभूतार्थ नय है। यतः शुद्ध निश्चय नय (अपर नाम द्रव्यार्थिक नय) पर्यायादि भेदों को गौण कर द्रव्य (सामान्य व अभेद) दृष्टिप्रधान है अतः वह भूतार्थ है तथा व्यवहार नय द्रव्य को गौण कर पर्याय (विशेष) दृष्टि प्रधान है अतः अभूतार्थ है।

भूत शब्द का अर्थ सत्य भी है, जिससे निश्चय नय को सत्यार्थ एवं व्यवहार नय को असत्यार्थ भी कहा गया है—जिसका उल्लेख श्रीमज्जयसेनाचार्य कृत समयसार की ११वीं गाथा की टीका में पाया जाता है, किंतु इसी ११वीं गाथा की टीका में उक्त आचार्य ही गाथा का द्वितीय रूप में व्याख्यान करते हुए व्यवहार नय को भी भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो भागों में विभक्त करते हैं। वे लिखते हैं कि व्यवहार नय भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो भेद रूप हैं उसी प्रकार शुद्ध नय

वस्तुत: एक नय (सुनय) अन्य नयों के विषय को गौण एवं अपने दृष्टिगत विषय को मुख्य कर कथन करने का ही अधिकारी है। वस्तु में विद्यमान धर्म गुण या पर्याय को, जो अन्य नय का विषय हैं, निषेध करने या उसे झुठलाने का न तो उसे कोई अधिकार व इष्ट ही होता है और न वस्तु का वैसा (सर्वथा एकांत-मयी) स्वरूप ही है। जब भी एक नय दूसरे नय को कदाग्रह या अहंकार अथवा पक्षपातवश झुठलाएगा या उसके विषय को गौण न कर निषेध करेगा तभी वह स्वयं भी निरपेक्ष हो जाने से मिथ्यैकांत के गर्त में गिर कर असत्य की कोटि में चला जायगा। जैन सिद्धांत में नयों को अंश-अंश रूप में वस्तु का परिज्ञान कराने वाला होने से उनको परस्पर मैत्री-भाव (अन्य नय सापेक्षता) रख कर ही वस्तु के सत्यांश का प्रतिपादक माना गया है।

भूत शब्द का अर्थ हित भी है, अत: इस दृष्टि से कोई मनीषी केवल निश्चय नय को ही आत्मा का हित साधक मान निश्चय को भूतार्थ व व्यवहार नय को

अहितकारी मान उसे अभूतार्थ व सर्वथा हेय प्रतिपादन करते देखे जाते हैं। किन्तु अज्ञानियों को प्रारंभिक दशा में तत्त्व-बोध कराने में व्यवहार नय ही प्रयोजनवान् होने से कथंचित् हितकारी भी सिद्ध होता है। यहाँ तक कि सभी जीवों को प्रारंभिक अज्ञान दशा में व्यवहार नय ही तत्त्व बोध कराने में अनिवार्य साधन है अतः इस अर्थ में भी व्यवहार नय भूतार्थ सिद्ध होता है।

इस प्रकार समयसार में श्रीमदमृतचार्य ने तथा श्रीमज्जयसेनाचार्य ने जो निश्चय और व्यवहार दोनों नयों का भूतार्थ व अभूतार्थ रूप में प्रतिपादन किया है वह उल्लिखित विवरण से गंभीरतापूर्वक भली-भांति विचारने पर यथार्थ व न्यायोचित सिद्ध हो जाता है।

इसके सिवाय श्रीमज्जयसेनाचार्य ने समयसार की ही ११५वीं गाथा की टीका करते हुए निश्चय और व्यवहार नयों को दो नेत्रों की संज्ञा दी है और उनके परस्पर सापेक्ष होने पर ही दोनों को सत्य सिद्ध किया है। उनके शब्द निम्न प्रकार हैं—

"किं च, शुद्ध निश्चयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीय पक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यते एव। कस्मात् ? निश्चयव्यवहारयोः परस्पर सापेक्षत्वात्। कथमिति चेत् ? यथा "दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः" इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्ष नय विभागं न मन्यन्ते सांख्य-सदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथाशुद्ध निश्चयनयेन कर्ता न भवति, क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि, ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबंधाभावः। कर्म बंधाभावे संसाराभावः। संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति। सचप्रत्यक्ष विरोधः-संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वात्।"

अर्थात्—"दूसरी बात यह है कि शुद्ध नय से जीव के अकर्त्तापना, अभोक्तापना और क्रोधादिक से भिन्नपना है—इस प्रकार व्याख्यान करने पर दूसरे पक्ष में व्यवहार से कर्त्तापना, भोक्तापना और क्रोधादिक से अभिन्नपना भी जीव में पाया ही जाता है। किस कारण से ? यदि ऐसा पूछो, तो उत्तर यह है कि जैसे देवदत्त दक्षिण नेत्र (दाहिनी आंख) से देखता है, ऐसा कथन करने पर वाम नेत्र (बांयों आंख) से नहीं देखता—यह बात बिना कहे सिद्ध हो जाती है।" अर्थात् निश्चय व्यवहार दोनों नय दायें बायें—नेत्र के समान हैं।

आगे चल कर वे कहते हैं—"जो इस प्रकार परस्पर सापेक्ष नय विभाग को नहीं मानते ऐसे जो सांख्य और सदाशिव मतानुयायी हैं उनके मत में जैसे शुद्ध निश्चय नय से जीव कर्ता नहीं है और क्रोधादिक से भिन्न है उसी प्रकार व्यवहार नय से भी मानना पड़ेगा। इससे संसारी जीव के क्रोधादि रूप परिणमन

इस प्रकार नयों द्वारा वस्तु का ज्ञान विभिन्न दृष्टियों से पात्रानुसा[र]
जाना है, अतः नयों का स्वरूप भी यथार्थ रूप में जानना नितान्त आवश्यक है;
क्योंकि आचार्यों ने जो कुछ भी वस्तु के संबंध में कथन किया है वह किसी न[य]
की मुख्य दृष्टि से ही किया है और वह अन्य नय सापेक्ष होकर वस्तु का अंश रू[प]
में ज्ञान कराने वाला है, अतः सत्य है।

समयसारादि आध्यात्मिक ग्रंथों में शुद्ध नय की अभेद प्रधान सामान्य दृष्टि
की प्रधानता से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है तथा गोम्मट-
सारादि ग्रंथों में भेद नय प्रधान व्यवहार दृष्टि से गुणस्थानादि गत जीव के है
भावों तथा गति इन्द्रियादि अवस्थाओं के कथन द्वारा तत्त्व ज्ञान कराने का परम-
पूज्य आचार्यों ने प्रयास कर तत्त्व जिज्ञासुओं की पात्रानुसार ज्ञान-पिपासाको शान्त
करके महान उपकार किया है, जिससे हमें नयों के पक्ष व्यामोह का परित्याग कर

अपनी वर्तमान योग्यतानुसार सम्यग्ज्ञान की आराधना द्वारा वीतराग विज्ञान की ओर अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है।

नयों के पक्षपातवश उनसे राग-द्वेष करना अथवा तत्त्वचर्चा में उनका प्रयोग कर विसंवाद करना और एक-दूसरे को मिथ्यादृष्टि कह कर संबोधन करना या परस्पर शत्रुतापूर्ण व्यवहार करना-कराना न तो आवश्यक और उचित है और न इससे अनादिकालीन मोह का विनाश होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति पूर्वक तत्त्व ज्ञान की उपलब्धि व चारित्र की पवित्रता ही संभव है। अतः विद्वानों और प्रवचनकारों का यह परम कर्तव्य है कि वे अज्ञता वश अपने किसी एक नय के सर्वथा पक्ष व्यामोह के कुचक्र में फँसकर अनेकान्तात्मक जैन शासन के विरुद्ध एकांतमिथ्यात्व के प्रचार-प्रसार से दूर रहें तथा समाज को नगर-नगर और गांव-गांव में इसी आधार पर फूट डाल कर पार्टियाँ बना दो भागों में बांटने और लड़ाने का प्रयत्न न करें। भगवान् महावीर के अनुगामी होने के कारण उन पर जो अनेकांतपरक सत्य सिद्धांत की ज्योति पूर्वाचार्य परंपरानुसार अक्षुण्ण रूप में आगम व अध्यात्म शास्त्रों में जगमगा रही है उसे अपनी अज्ञतावश ढँकने या बुझाने का दुरभिमान, चालाकी या नासमझी से प्रयत्न करना और अपने एकांत-दूषित अभिप्रायों को उन पर लादना सर्वथा अनुचित है—इस पर ध्यान दे तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रंथ में जो पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी ने निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी एवं उभयाभासी जनों की मान्यताओं का निष्पक्ष भाव से विश्लेषण कर नयाभासी न बनने की चेतावनी दी है, उसे पढ़कर वीतराग निष्पक्ष भाव से जैनागम के चारों अनुयोगों व अध्यात्म का अभ्यास करें तथा दूसरों को करावें, इसी में स्व-पर हित सन्निहित है। अस्तु,

ग्रंथ में प्रतिपादित विषय

प्रस्तुत ग्रंथ तीन अधिकारों में विभाजित है। प्रथम जीवा-जीवाधिकार में केवल जीवद्रव्य का विभिन्न दृष्टियों से अवान्तर नव अधिकारों द्वारा प्रतिपादन किया गया है तथा अजीव द्रव्य एवं उसके भेदों का लक्षणात्मक वर्णन करते हुए पंचास्तिकाय में सम्मिलित द्रव्यों का सकारण निरूपण भी है। दूसरे तत्त्व निरूपणाधिकार में आस्रवादि तत्त्वों का भाव तथा द्रव्य स्वरूप उनके भेदों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हुए पुण्य और पाप का भी वर्णन किया गया है। तीसरे, अधिकार में निश्चय और व्यवहार मोक्ष मार्ग का स्वरूप दर्शा कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उभय नयों से प्रतिपादन एवं ध्यान की उपयोगिता' स्वरूप व भेदों को स्पष्ट करते हुए अंत में तपश्रुतव्रत सहित (व्यवहार चरित्र का भली-भांति परिपालन करने वाला) आत्मा ही निश्चय (ध्यान स्वरूप वीतराग) चारित्र का पात्र हो सकता है, इसलिए तपश्रुतव्रत रूप व्यवहार धर्म के परिपालन की अनिवार्य रूप में आवश्यकता एवं सार्थकता दिखा कर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उनमें सदा ही लीन रहने की प्रेरणा की गई है।

पाठकों को यह ग्रंथ व उसकी टीका कितनी उपयोगी है, यह सहज ही विदित हो जाता है।

द्रव्यसंग्रह की हिंदी टीकाओं में एक महत्त्वपूर्ण टीका (जो इस भावानुवाद को सम्पन्न करने के पश्चात् मुझे देखने में आई है), द्रव्य-संग्रह भाषावचनिका के नाम से तथा हिंदी में ही चौपाई छंदों में भाषा-पद्यानुवाद जयपुर निवासी विद्वर्वर पं. जयचन्द्रजी छावड़ा ने विक्रम सं. १८६३ में लिखी थी जो वाराणसी से वर्णी ग्रंथमाला से प्रकाशित है। इन्हीं ने समयसार, परमात्म प्रकाशादि ग्रंथों की सर्वप्रथम हिंदी में टीकाएँ तथा मौलिक रचनाएँ भी सम्पन्न की हैं, जिनसे समाज भली-भाँति परिचित है। इसके सिवाय हिंदी में विद्यार्थियों को विद्यालयों की कक्षाओं में अध्यापनार्थ अन्य अनेक विद्वानों द्वारा संक्षिप्त टीकाएँ भी हुई है, जिनसे समाज को बड़ा लाभ हुआ है। अभी-अभी १०५ श्री आर्यिका विदुषीरत्न माता ज्ञानमतीजी का हिन्दी में ही नवीन पद्यानुवाद भी सनावद से प्राप्त हुआ है जो सरल भाषा में ग्रंथ के भाव को समझने में सर्वसाधारण को उपयोगी है।

प्रस्तुत रचना के संबंध में

द्रव्य-संग्रह में तत्त्वार्थ की स्याद्वाद परक गरिमापूर्ण संक्षिप्त विवेचना से आकृष्ट होकर स्वांतःसुखाय यह नवीन पद्यानुवाद करने की अंतरंग में मुझे भी जो प्रेरणा मिली थी उसी के फलस्वरूप 'द्रव्यसंग्रह-दीपिका' के नाम से यह रचना समाज के ज्ञानवर्द्धन हेतु उपयोगी जान इस रूप में प्रस्तुत करते मुझे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसमें राष्ट्रभाषा के माध्यम से ग्रंथ के भाव को संक्षेप में स्पष्ट करते हुए उसे गेय और नित्यपाठ करने कराने के उपयुक्त बनाने का भरसक प्रयास किया गया है; इस प्रयास में सफलता कहाँ तक मिली, इसका निर्णय सहृदय-विज्ञ पाठक ही कर सकेंगे। पद्यानुवाद के साथ ही मूल गाथाओं का भाव स्पष्ट करने के उद्देश्य से सरल भाषा में भावार्थ भी दिया जा रहा है। आशा है जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्म में प्रवेश करने के उत्सुक धर्म बन्धुओं की प्राथमिक ज्ञान-पिपासा को शांत करने में इसका निश्चय व्यवहार नयों की समन्वित दृष्टि से अध्ययन करने पर यथेष्ट सहायता मिलेगी तथा अनेक भ्रांतियाँ भी दूर हो सकेंगी।

"को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे" तत्त्वार्थसूत्रकार की इस उक्ति के अनुसार स्वल्पज्ञों से महान् आचार्यों के सूत्रबद्ध ग्रन्थों का भाव समझने व समझाने में त्रुटियों का होना असंभव नहीं है, अतः दृष्टि दोषवश यदि त्रुटियाँ हुई हों तो विद्वानों से नम्र निवेदन है कि वे जिन सूत्रानुसार सुधार कर पढ़ें एवं हमें भी उनकी ओर निःसंकोच होकर इंगित कर कृतार्थ करें, ताकि उन्हें सुधारा जा सके।

धर्मनिष्ठ स्वर्गीय लालाजी

श्री बाबूलालजी सरावगी

(संस्थापक, फर्म—राधेश्याम रोशनलाल, क्लॉथ मार्केट, इन्दौर)

आप एक अत्यंत सरल हृदय, शांत स्वभावी, धर्मपरायण, उदारमना, साधुपुरुष थे। आपकी पुण्य स्मृति में उल्लिखित फर्म के संचालक महानुभावों ने इस ग्रंथ की ५०० प्रतियाँ धर्म प्रभावनार्थ भेंट स्वरूप वितरण करने का निश्चय किया है। एतदर्थ धन्यवाद !

—प्रकाशक

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

द्रव्यसंग्रह-दीपिका

श्रीमद्‌भगवन्नेमिचंद्राचार्य विरचित प्राकृत–द्रव्यसंग्रह एवं उसका
हिन्दी गद्य-पद्य में भावानुवाद

× ×

जीवाजीवाधिकार

(१)

मंगलाचरण

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥

जिस जिनराज वृषभ विभुवर ने
मोह तिमिर का कर अवसान
जीवाजीवद्रव्य का सम्यक्
किया विश्वहित ज्ञान प्रदान,
जो देवेन्द्रवृन्द कर भगवत्
वंदनीय है नित निष्काम–
उस प्रभु के चरणारविंद में
शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥

भावार्थ——जो परिपूर्ण देवेन्द्र समूह द्वारा वंदनीय हैं तथा जिन्होंने धर्मोपदेश द्वारा जीव-अजीव द्रव्यों का निरूपण किया था उन गणधरादि आचार्यों में प्रधान भगवान् वृषभदेव (दूसरे अर्थ में भगवान् जिनेन्द्र देव) की मैं नत मस्तक होकर सविनय वंदना करता हूँ ।

किसी शुभ कार्य के प्रारम्भ में परमात्मा का स्मरण, वंदनादि करने को मंगलाचरण कहते हैं । इससे भावों में पवित्रता का संचार होने से पापों का नाश एवं सुख-शान्ति की प्राप्ति के साथ ही कार्य भी निर्विघ्न समाप्त होते हैं । अतः भगवान् का गुण स्मरण मंगलाचरण कहलाता है ।

अवसान=अंत । वृन्द–समूह । नित=नित्य । निष्काम=वांछा या स्वार्थरहित । मंगं सुखं लातीति मंगलं=जो सुख प्रदान करे उसे मंगल कहते हैं अथवा मलं पापं गालयतीति- मंगलं=जो पापों को दूर करे उसे मंगल कहते हैं । भगवान् का गुण स्मरण दोनों अर्थों में मंगलमय है ।

विभिन्न दृष्टियों से जीव का लक्षण

जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाण
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढग

प्राणवान्, उपयोगमयी
एवं अमूर्त्त रस रूप विहीन,
कर्त्ता, भोक्ता देहप्रमित वा—
संसारी – वसुकर्माधीन ।
बंधन से उन्मुक्त दशा में—
सिद्ध वही है शुचि स्वाधीन—
अग्निशिखावत् ऊर्ध्वगामि, यों
जीव विहित है सर्वांगीण ।।

भावार्थ—जो प्राणवान् है, उपयोगमयी-ज्ञान दर्शन रूप उपयोग वाला है, अमूर्तिक—रूप रहित है, कर्त्ता—निश्चय से अपने भावों और व्यवहार से ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता है, स्वदेहपरिमाण—व्यवहार से अपनी देह के बराबर और निश्चय से असंख्यात प्रदेश वाला है, भोक्ता—निश्चय से अपने चैतन्यस्वरूप भावों का और व्यवहार से सुख-दुःख रूप कर्म फलों का भोक्ता है, संसारी-कर्मबंधन की दशा में संसार परिभ्रमण करता है तथा सिद्ध-कर्मबंधन से मुक्त दशा में शुद्ध-सिद्ध है और जो विस्रसाऊर्ध्वगति-स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है—वह जीव है।

इस प्रकार जीव द्रव्य का नौ अधिकारों द्वारा यहाँ वर्णन किया जाता है।

उपयोगमयी—ज्ञान-दर्शन से जानने देखने वाला। विहीन-रहित। कर्त्ता—करने वाला। भोक्ता भोगने वाला। देह प्रमित—शरीर बराबर। वसु—आठ। उन्मुक्त—स्वतंत्र। अग्निशिखावत्—आग की लौ के समान। ऊर्ध्वगामि—ऊपर जाने वाला। विहित—कहा गया।

प्राण प्रधान दृष्टि जीवाधिकार

तिक्काले चदुपाणा, इंदिय बलमाउ, आणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो, णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ।।

जो त्रिकाल इन्द्रिय बल आयुष्
श्वासोच्छ्वास प्राणधर चार-
जीवित रहता जीव उसे कह-
प्रतिपादन करता व्यवहार ।।
किंतु वस्तुतः निश्चय नय से
जीव वही है सूत्र प्रमाण-
रहता सतत प्रस्फुरित जिसमें
भाव चेतना-निश्चय प्राण ।।

भावार्थ—जो जीवित रहता है उसे जीव कहते हैं । इन्द्रिय-बल, आयु ा श्वासोच्छ्वास इन चार द्रव्य प्राणों द्वारा जो जिया, जी रहा और ‌िवेगा उसे व्यवहार-नय से जीव कहते हैं तथा निश्चय नय से जिसमें तना स्वरूप भाव प्राण है वही जीव है ।

द्रव्य प्राणों के भेद करने पर इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, क्षु और कर्ण । बल तीन हैं—मनोबल, वचनबल, कायबल । इनमें आयु ार श्वासोच्छ्वास मिला देने से प्राणों की संख्या दस हो जाती है । एकेन्द्रिय व के चार प्राण होते हैं—स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल आयु और श्वासो-छ्वास । दो इन्द्रिय के रसना इन्द्रिय और वचन बल की वृद्धि होने से ह प्राण हो जाते हैं । तीन इन्द्रिय जीव के घ्राण इन्द्रिय की वृद्धि से त प्राण होते हैं । चतुरिन्द्रिय के चक्षु की वृद्धि से आठ प्राण और सैनी पचेन्द्रिय के कर्णेन्द्रिय की वृद्धि से नौ तथा पचेन्द्रिय सैनी के दसों ाण होते हैं । भाव प्राण चेतना है, जो संसारी-मुक्त सभी जीवों के ाया जाता है

सतत = निरन्तर । प्रस्फुटित = विकसित, प्रकाशमान् ।

भावार्थ—उपयोग दो प्रकार का होता है—(१) दर्शनोपयोग, (२) ज्ञानोपयोग। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है—चक्षुदर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधिदर्शन और केवल दर्शन।

आत्मा के ज्ञान दर्शन गुणों की परिणति को (जानने देखने को) उपयोग कहते हैं। वस्तु की सत्ता मात्र के अवलोकन को दर्शनोपयोग कहते हैं और विशेष रूप में वस्तु के साकार जानने को ज्ञानोपयोग।

नेत्रों से वस्तु की सत्ता मात्र का अवलोकन चक्षु दर्शन है। शेष इन्द्रियों से वस्तु की सत्ता मात्र का अवलोकन अचक्षु दर्शन है। अवधिज्ञान से पदार्थों को जानने के पूर्व उनकी सत्ता मात्र का अवलोकन अवधिदर्शन है और समस्त पदार्थों की सत्ता का केवल ज्ञान के साथ-साथ सामान्यतया जो अवलोकन है वह केवल दर्शन कहलाता है।

निर्विकल्प=भेद रहित, सामान्य रूप में।
सविकल्प=विशेष सहित। अर्थों=पदार्थों।
प्रतिभासित=ज्ञात।

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठवियप्पं, मदिसुदओही अणाणणाणाणि ।
मणपज्जय केवलमवि, पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥

मति श्रुत अवधि मनःपर्यय वा
विश्वविभासक केवल ज्ञान–
कुमति-कुश्रुत-कुअवधि सँग मिलकर–
कुल संख्या है अष्ट प्रमाण ॥
वसुविध हो ज्ञानोपयोग यह
ज्ञेयों को जाने साकार ।
यह परोक्ष-प्रत्यक्ष भेद से–
भी व्यवहृत है उभय प्रकार ॥

भावार्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधि ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान इस प्रकार ज्ञानोपयोग आठ प्रकार है । तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से वह दो प्रकार का भी है । पर की सहायता विना होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । तथा पर की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है । मति व श्रुतज्ञान परोक्ष है । अवधि व मनः पर्यय देश प्रत्यक्ष है तथा केवलज्ञान सकल (पूर्ण) प्रत्यक्ष है ।

इन्द्रियों तथा मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है । मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप में जानना श्रुत ज्ञान है । द्रव्य क्षेत्र काल भाव की सीमा लिये हुए विना इन्द्रिय और मन की सहायता के होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान को अवधि ज्ञान कहते हैं । आत्मिक शक्ति से इन्द्रियादि की सहायता विना दूसरों के मन की बात जानने को मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं तथा समस्त पदार्थों को उनके गुणों, तथा पर्यायों सहित एक साथ प्रत्यक्ष जानने को केवल ज्ञान कहते हैं । मिथ्या-दृष्टि जीव के मति, श्रुत और अवधि ज्ञान कुमति, कुश्रुत, कुअवधि कहलाते हैं ।

ज्ञेयों=ज्ञान के विषयभूत पदार्थों ।
साकार=आकार सहित ।
व्यवहृत=भेद रूप । उभय=दो ।

अमूर्तित्व अधिकार

वण्णरसपंच गंधा दो फासा अट्ठणिच्चया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ।।

पंच वर्ण, रस पंच, गंध दो–
स्पर्श आठ पुद्गल गुण लेश–
निश्चय से नहिं जीव मात्र में
करपाते हैं रंच प्रवेश ।
यों स्वभाव की दृष्टि अमूर्तिक–
जीव जाति है सूत्र प्रमाण ।
बंध दशा में किंतु मूर्त्त भी
दरशाता व्यवहार विधान ।।

भावार्थ––निश्चयनय से पाँच वर्ण (कृष्ण नीलादि) पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श जीव में नहीं पाये जाते हैं, अतः जीव अमूर्तिक है, किन्तु कर्म-बन्धन में पड़ा हुआ जीव शरीरादि से अनादिकालीन सम्बन्ध होने के कारण व्यवहारनय से मूर्तिक भी कहा जाता है ।

कर्मबद्ध जीव की अनादि कालीन अशुद्ध दशा की दृष्टि से जीव को मूर्तिक कथन करने में आता है। संसार में मूर्त्त शरीरों के द्वारा जीव की पहचान भी होती है। अतः स्वभाव में अमूर्तिक भी जीव मूर्त्त कर्म व नो कर्मों में बद्ध होने के कारण व्यवहारनय से मूर्त कहा जाता है ।

भावार्थ—आत्मा उपचरित व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का कर्ता कहा जाता है तथा अशुद्ध निश्चयनय से अपने रागादि भाव रूप चेतन कर्मों का कर्ता है, किंतु शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव का ही कर्ता कहा जाता है।

यहाँ निश्चय नय के भी दो भेद किये गये हैं। चूंकि रागादि विकार भावों का उपादान कारण आत्मा ही है और वे आत्मा की ही परिणतियाँ हैं अतएव रागादि भाव आत्मा के ही हैं, अतः निश्चय नय से वे जीव के हैं और कर्मोदय की अवस्था में वे उपाधिरूप में उत्पन्न होते हैं, अतः उनमें अशुद्धपना है। अतः अशुद्ध निश्चय नय से जीव ही उनका कर्ता है। किन्तु शुद्ध निश्चय नय से जीव का शुद्ध स्वभाव ही ग्रहण किया जाता है। अतः शुद्ध नय से आत्मा अपने ज्ञान दर्शनादि स्वभाव का ही कर्ता है। आत्मा के रागादि भावों के निमित्त से पुद्गल कर्म वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन करती हैं। अतः व्यवहार नय से आत्मा इन कर्मों का कर्ता कहा जाता है। यहाँ व्यवहार नय से तात्पर्य उपचरित व्यवहार नय से जानना चाहिए।

संसृति = संसार। अवलोकित = देखा गया।

ववहारा सुहदुक्खं, पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्चयणयदो, चेदणभावं खु आदस्स ॥

पुद्‌गल कर्मों का फल सुख-दुख–
जो होता है विविध प्रकार–
उनका भोक्ता जीव जगत में–
प्रतिपादन करता व्यवहार ॥
निज चैतन्यभाव ही भोक्ता
किंतु सुनिश्चय दृष्टि प्रधान ।
निश्चय स्वाश्रित और पराश्रित–
है प्रायः व्यवहार विधान ॥

भावार्थ—व्यवहार नय से जीव पूर्ववद्ध कर्मों के उदय जन्य *सुख-दुःख रूप फलों का अनुभव करता हुआ उनका भोक्ता है और निश्चय* नय से अपने चैतन्यमयी भावों का ही भोक्ता है।

इस प्रकार उभय नयों की भिन्न-भिन्न दृष्टियों में जीव को कर्ता एव भोक्ता जानना चाहिये । जैसा कि वह है। कर्म चेतना की दशा में रागादि भावों का कर्ता और कर्मफल चेतना की दशा में सुख-दुखादि कर्म फलों का भोक्ता एवं ज्ञान चेतना की दशा में अपने शुद्ध दर्शन ज्ञानादि भावों का कर्ता एवं भोक्ता यह जीव ही होता है। अतः उभय नयों के सापेक्ष कथन में कोई विरोध नहीं है।

स्वाश्रित=निज के आश्रय रहने वाला।
पराश्रित=दूसरी व

भावार्थ—आत्मा का आकार कितना बड़ा है? इसका समाधान आचार्यश्री ने दोनों नयों से किया है। आत्मा के प्रदेशों में संकोच-विस्तार (सिकुड़ने-फैलने) की शक्ति होने से समुद्घात की दशा को छोड़कर प्रत्येक आत्मा अपने गतियों में प्राप्त छोटे-बड़े शरीर के बराबर है (क्योंकि वह दीपक के प्रकाश की भांति प्राप्त शरीर के निमित्त से सिकुड़ या फैलकर उसी के बराबर हो जाता है) किन्तु समुद्घात में आत्मा शरीर के बाहर फैलता है। अतः शरीर के बराबर नहीं रहता। जैसा कि केवलि समुद्घात में लोकपूर्ण अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अतः व्यवहारनय से संसार दशा में वह शरीर के बराबर और सिद्ध दशा में चरम शरीर से किंचित् न्यून आकार वाला होता है। किन्तु निश्चय नय से संसार व मुक्त दोनों अवस्थाओं में प्रत्येक आत्मा असंख्यात प्रदेशी (शक्ति की दृष्टि से लोकाकाश के बराबर फैलने वाला) सदैव बना रहता है। इस प्रकार दोनों नयों का कथन सत्य है।

संकुचित=सिकुड़न को प्राप्त। विस्तरित=विस्तार को प्राप्त। अणु=छोटा गुरु=बड़ा। परिमाण=आकार। समुद्घात=जीव का शरीर में रहते हुए भी बाहर फैल जाना। प्रमित=बराबर। विहित=कहा गया।

संसारी अधिकार

पुढविजलतेउवाऊ, वणप्फदी विविहथावरेइंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा, तसजीवा होंति संखादी ।।

भूमि अग्नि जल वायु वनस्पति–
काय विहित हैं विविध प्रकार–
इन एकेन्द्रिय जीवों का है–
स्थावर नाम रूप व्यवहार ।
शंख पिपील भ्रमर मनुजादिक
द्वि त्रि चतु पंचेन्द्रिय पर्यन्त–
त्रस संज्ञक संसारी हैं सब–
संख्यातीत अनंतानंत ।।

भावार्थ—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पति-काय ये नाना प्रकार के एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं तथा शंख, चींटी, भ्रमर और मनुष्यादि दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं । इस प्रकार समस्त संसारी जीव त्रस व स्थावर के दो प्रमुख भेदों में विभक्त हैं ।

चौदह जीव समास

समणा अमणा णेया, पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइंदी, सव्वे पज्जत्त* इदरा य॥

पंचेन्द्रिय जीवों के सैनी-
और असैनी हैं दो रूप-
शेष जीव मनरहित विकलत्रय
द्वित्रिचतुरिन्द्रिय हैं बहुरूप॥
एकेन्द्रिय सब द्विविध विहित हैं
बादर सूक्ष्म भेद निर्धार।
अपर्याप्त पर्याप्त रूप सब
चौदह जीव समास विचार॥

भावार्थ---पंचेन्द्रिय सैनी (संज्ञी) असैनी (असंज्ञी) के भेद से [illegible] प्रकार हैं। शेष समस्त संसारी-एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त-मनरहित (असैनी) ही होते हैं। त्रस जीवों में दो इन्द्रिय ते इन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव विकलत्रय कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से [illegible] प्रकार है। इस प्रकार (१) एकेन्द्रिय सूक्ष्म, (२) एकेन्द्रिय स्थूल, (३) [illegible] इन्द्रिय, (४) ते इन्द्रिय, (५) चतुरिन्द्रिय, (६) असैनी पंचेन्द्रिय (७) सैनी पचेन्द्रिय ये संसारी जीवों के सात भेद हैं। ये सातों प्रकार [illegible] जीव पर्याप्त दशा तथा अपर्याप्त दशा की दृष्टि से भेद करने पर [illegible] जीव समास (भेद) हो जाते हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियां हैं। नवीन शरीर धारण करने [illegible] जब तक [illegible] अपूर्ण रहती है तबतक जीव अपर्याप्त और पूर्ण हो जाने [illegible] पर्याप्त कहलाता है।

[illegible] [illegible], मन सहित। असैनी—असंज्ञी, मनरहित।
[illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]।

मार्गणा व गुणस्थान की दृष्टि से जीवों के चौदह भेद

मग्गणगुणठाणेहि य, चउदसहि हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ।।

गुणस्थान मिथ्यात्व आदि या
गतिकायादि मार्गणाद्वार ।
संसारी में भेद चतुर्दश–
हों अशुद्ध नय के अनुसार ।
किन्तु शुद्धनय भेद गौणकर–
रख स्वदृष्टि चैतन्य प्रधान–
जीव मात्र को शुद्ध जताता
पा सब में 'जीवत्व' समान ।।

भावार्थ—संसारी जीवों के गति आदि चौदह मार्गणाओं एवं मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों के द्वारा भी अशुद्धनय से चौदह-चौदह भेद हो जाते हैं, क्योंकि संसार की अशुद्ध दशा में ये भेद पाये जाते हैं। किन्तु जीवत्व सामान्य की दृष्टि से उपरोक्त समस्त भेदों को गौणकर जीवों को शुद्ध (अभेद) नय से देखने पर सब जीव शुद्ध हैं। अर्थात् जीवत्व या चैतन्य की दृष्टि से जीवों में समस्त भेद गौण हो जाते हैं। अतः पर्यायों व गुणों की भिन्नता शुद्ध (अभेद) दृष्टि में नहीं रहने से शुद्ध नय जीवों में शुद्ध चैतन्यमयी जीवत्व भाव की दृष्टि से सबको समान ही देखता है। पर्याय दृष्टि से संसारी जीवों को यहां शुद्ध नहीं कहा गया है। केवल जीवत्व की दृष्टि से शुद्ध जानना चाहिए।

गुणस्थान=जीवों के भावों की श्रेणियां।
मार्गणा=जिन स्थूल पर्यायों द्वारा जीवों को देखकर भेद किया जाता है।

ऊर्ध्व गमन अधिकार

पयडिट्ठिदिअणुभाग-प्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को ।
उड्ढं गच्छदि सेसा, विदिसावज्जं गदिं जंति ।।

प्रकृति प्रदेश स्थितिविपाक से–
बंध-मुक्त होकर अविराम–
जीव स्वतः ही ऊर्ध्वगमन कर–
लोक शिखर पाता विश्राम ।

कर्मवद्ध संसारी जन सब–
जिनकी है पर्याय मलीन–
विदिशा गमन न कर गतियों में–
जाकर पायें देह नवीन ।।

भावार्थ—प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग—इन चार प्रकार के बंधों से सर्वथा मुक्त होकर जीव स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता सीधा जाकर लोक के अन्त भाग में पहुँचकर स्थिर हो जाता कर्मवद्ध संसारी जीव गतिबंध के अनुरूप विदिशाओं में गम नारकी मनुष्य और तिर्यंच गतियों में नवीन शरीर को धार जैसे अग्नि की लौ स्वभावतः ऊपर की ओर जाती है; वि प्रेरणा से इधर-उधर भी मुड़ती देखी जाती है । उसी प्र भी शुद्ध दशा में स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता है और कर्म व रूपी वायु से प्रेरित होकर मोड़े लेता व गतियों में नवी करता है ।

प्रकृति=स्वभाव । स्थिति=समय की मर्यादा ।
प्रदेश=सूक्ष्म हिस्से । अनुभाग=फलदान शक्ति ।
अविराम=बिना रुके । ऊर्ध्व=ऊपर ।
कर्मवद्ध=कर्मों से बंधा हुआ ।

[illegible]

अजीव द्रव्य निरूपण

(१५)

अजीव द्रव्य के भेद [illegible]

अज्जीवो पुण णेओ, पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो; रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥

पुनि अजीव द्रव्यों का निरूपण
ज्ञेय निहित है सूत्र प्रमाण ।
जिससे सहज हि संपादित हो--
स्वपर भेद विज्ञान महान ॥

पुद्गल, धर्म अधर्म, काल, नभ,
ये अजीव हैं पंच प्रकार ।
रूपादिक युत पुद्गल मूर्तिक
शेष अमूर्त्त द्रव्य हैं चार ।

भावार्थ---चेतनाशून्य (ज्ञान-दर्शन रहित) द्रव्य को अजीव कहते हैं। अजीव द्रव्य पाँच प्रकार के हैं। (१) पुद्गल, (२) धर्म, (३) अधर्म, (४) आकाश, (५) काल।

पुद्गल उसे कहते हैं जिसमें रूप-रस गंध और स्पर्श ये चार गुण पाये जावें। इन गुणों से युक्त होनें के कारण पुद्गल द्रव्य मूर्तिक हैं, किन्तु शेष चार द्रव्य (धर्मादि) अमूर्तिक है।

ज्ञेय=जानने योग्य।

सूत्र प्रमाण=जिनवाणी के अनुसार।

पुद्‌गल द्रव्य की पर्यायें

सद्दो बंधो सुहमो, थूलो संठाणभेदतमछाया ।
उज्जोदादवसहिया, पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ।।

शब्द, बंध, तम, छाया, आतप–
बादर, सूक्ष्म, भेद, संस्थान ।
उद्योतादि विविध पुद्‌गल की–
वैभाविक पर्यायें जान ।।
अणुस्वरूप पर्याय शुद्ध वा
स्वाभाविक है सूक्ष्म महान–
अणु मिल स्कंध बने तब प्रगटें–
बादर गत नाना संस्थान ।।

भावार्थ—शब्द (ध्वनि), बंध (स्कंध, पिंड), सूक्ष्म (बारीक), स्थूल (मोटा), संस्थान (आकार-गोल, त्रिकोण, चतुष्कोणादि), भेद (टुकड़े होना), तम (अन्धकार), छाया (परछाई), उद्योत (प्रकाश, चान्दनी), आतप (धूप), ये सब पुद्‌गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्यायें जानना चाहिए ।

अणु और स्कंध के भेद से पुद्‌गल द्रव्य दो प्रकार के हैं । सबसे छोटे टुकड़े को (जिसके दो टुकड़े न हो सकें) परमाणु तथा दो या अधिक मिले हुए परमाणुओं को स्कंध कहते हैं । परमाणु पुद्‌गल की शुद्ध दशा है और स्कंध अशुद्ध है, क्योंकि वह परमाणुओं के मेल से होती है ।

वैभाविक=विकारी, जो शुद्ध और स्वाभाविक न हो ।
पर्यायें=अवस्थाएं, दशाएं ।
बादर=स्थूल ।
सूक्ष्म=बारीक ।

धर्म द्रव्य का स्वरूप

गइपरिणयाण धम्मो, पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं, अच्छंता णेव सो णेई॥

गमन क्रिया करते पुद्गल या—
जीवों को सहज हि तत्काल—
हो जो गमन सहाय स्वतः ही
द्रव्य, वही है धर्म विशाल।
ज्यों मत्स्यों को जल तिरने में
करता है सहकार प्रदान;
किंतु न गति हित प्रेरित करता
जब सुस्थिर हों ये स्वस्थान॥

भावार्थ—गति क्रिया (हलनचलन) करते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों को जो उदासीन रूप से गमन करने में सहायक होता है वह धर्म द्रव्य है। जैसे जल मछलियों को तैरने में स्वयमेव सहायक हो जाता है वैसे ही धर्म द्रव्य भी—जो लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त है—जीव और पुद्गलों को चलने में सहायक होता है। वह प्रेरणा करके स्थिर जीवों या पुद्गलों को नहीं चलाता। यह एक, अखंड, निष्क्रिय, अमूर्तिक और सर्वव्यापक द्रव्य है, जिसे आधुनिक वैज्ञानिक संभवतः ईथर नाम से संबोधित करते हैं।

मत्स्यों=मछलियों। सहकार=सहायता।

अधर्म द्रव्य का स्वरूप

ठाणजुदाण अधम्मो, पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं, गच्छंता णेव सो धरई ।।

जब गतिशील जीव या पुद्गल
सुस्थिर होते तब तत्काल—
सुस्थिरता में सहकारी हो—
वह अधर्म है द्रव्य विशाल ।।

छाया ज्यों पथिकों को करती—
सुस्थिति में सहकार प्रदान—
त्यों अधर्म भी, किंतु गमन में
करता नहिं किंचित् व्यवधान ।।

भावार्थ—स्थिर होते हुए पुद्गल और जीवों को जो ठहरने में सहायक होता है, वह अधर्म द्रव्य है। जैसे पथिकों को ठहरने (विश्राम करने) में छाया सहायक होती है, वैसे अधर्म द्रव्य-जीव पुद्गलों को, जब वे स्वयं स्थिर होते है, स्थिर होने में सहायक होता है। यह भी एक, अखंड अमूर्तिक, निष्क्रिय और सर्वव्यापक द्रव्य है। गमन करते हुए जीवों या पुद्गलों को यह प्रेरणा करके ठहराता नहीं है, मात्र उदासीन रूप से सहायक होता है—जब वे स्वयं स्थिर होते हैं ।

सुस्थिति = स्थिरता ।
व्यवधान = बाधा ।

अवगासदाणजोग्गं, जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं, अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥

जीवादिक द्रव्यों को सतत ही
करता जो अवकाश प्रदान—
वह अनन्त आकाश द्रव्य है—
लोकालोक विभक्त महान ॥

धर्माधर्म काल पुद्गल या
जीव जहाँ करते हैं वास—
तावत् क्षेत्र लोक कहलाता—
शून्य प्रदेश अलोकाकाश ॥

भावार्थ—जीवादिक सम्पूर्ण द्रव्यों को जो रहने के लिए अवकाश (स्थान) प्रदान करता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। इसे भगवान् ने लोक और अलोक नाम से दो भागों में विभक्त कर प्रतिपादित किया है। आकाश द्रव्य भी संख्या में एक, अखंड, अमूर्तिक, निष्क्रिय और सर्वव्यापक द्रव्य है। किन्तु जितने आकाश के मध्य भाग में धर्म, अधर्म काल, पुद्गल एव जीव द्रव्य विद्यमान हैं उतने आकाश को लोक या लोकाकाश कहते हैं तथा उससे बाहर जीवादि द्रव्यों से शून्य आकाश को अलोक या अलोकाकाश कहते हैं।

अवकाश=स्थान। विभक्त=बँटा हुआ।
वास=बसना, रहना।
तावत्=उतना।

काल द्रव्य व उसके भेद

दव्वपरिवट्टरूवो, जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्ठो ।।

द्रव्यों में परिवर्त्तन द्वारा
होता है जिसका परिज्ञान-
जो पर्याय-स्थिति स्वरूप है
परिणामादि लक्षणोंवान् ।
यह व्यवहार काल कहलाता,
किंतु, समय जिसकी पर्याय-
तथा वर्त्तना लक्षण जिसका
वह है निश्चय काल अकाय ।।

भावार्थ--जो द्रव्यों के परिवर्तन स्वरूप है तथा परिणाम आदि लक्षणों से जाना जाता है वह व्यवहार काल कहलाता है। और वर्त्तना (परिवर्तन का होना) ही है लक्षण जिसका-वह निश्चयकाल है। प्रत्येक द्रव्य स्वभावतः परिवर्तन (परिणमन) शील है, किन्तु उसके परिणमन में काल द्रव्य उदासीन रूप से स्वयंमेव सहायक होता है। जैसे कुम्हार के चाक (चक्र) को कीली घूमने में सहायक है। उसी प्रकार काल द्रव्य भी अन्य द्रव्यों को पर्यायों के पलटने में अपनी समय रूप पर्यायों द्वारा सहायक होता रहता है।

परिणाम=पर्याय, भाव। वर्त्तना=परिवर्तन का होना।
अकाय=शरीर रहित, बहुत प्रदेश जिसमें न हो।

भावार्थ—लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान जिनका एक-एक अणु अवस्थित है वह वस्तुतः निश्चय काल द्रव्य है इसे परमार्थ काल भी कहते हैं।

कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के प्रदेशों के समान असंख्यात है काल द्रव्य की सबसे सूक्ष्म पर्याय समय कहलाती है। इन समयों के यो से काल द्रव्य का व्यवहार हुआ करता है—जैसे असंख्यात समयों की ए आवली होती है और संख्यात आवलियों की एक घड़ी, दो घड़ी का ए मुहूर्त, ढाई घड़ी का एक घंटा, चौबीस घंटों का एक दिन रात, तीस दि का एक मास, बारह मास का एक वर्ष आदि।

रत्नराशिवत् = रत्नों के ढेर के समान।
समवस्थित = स्थिर।

द्रव्य प्ररूपणा-उपसंहार एवं पंचास्तिकाय

एवं छब्भेयमिदं, जीवाजीवप्पभेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं, णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ।।

एवं जीवाजीव द्रव्य का
कर षड्भेद रूप निर्धार-
श्री जिनेन्द्र ने तत्वज्ञान हित
दिया दिव्य उपदेश उदार ।
इनमें काल बिना पुद्गल नभ
धर्माधर्म जीव समुदाय-
बहुदेशी पंचास्तिकाय हैं,
एक प्रदेशी काल अकाय ।।

भावार्थ—इस प्रकार पांच अजीव और जीव मिलकर द्रव्य के छह प्रकार हैं । इनमें काल द्रव्य को छोड़कर बहुत प्रदेशी होने से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य पंचास्तिकाय कहलाते हैं । अस्तिकाय क्यों कहलाते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम गाथा में दिया जा रहा है ।

षड्भेद=छह भेद । निर्धार=निश्चय निर्णय ।
बहुदेशी=बहुत प्रदेश वाले । अकाय=काय रहित—बहुत प्रदेश जिसके न हों ।

अस्तिकाय संज्ञा का विवेचन

संति जदो तेणेदे, अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहुदेसा, तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥

होने से सत्ता इन सबको
'अस्ति' कहा है यह समुदाय ।
काया सम हैं बहुत प्रदेशी–
अतः अस्ति में गूंथा 'काय' ।
एवं बहुदेशी द्रव्यों को
कायवान् कर अंगीकार
'अस्तिकाय' संज्ञा प्रदान कर
किया सूत्र में संव्यवहार ॥

भावार्थ—क्योंकि ये द्रव्य हैं इस कारण इन्हें 'अस्ति' कहा जाता है, तथा काय (शरीर) के समान इनके एकत्र संबद्ध प्रदेशों से युक्त हैं इसलिए इन्हें कायवान् कहा है। इस प्रकार अस्ति+काय=अस्तिकाय संज्ञा द्वारा इन द्रव्यों का व्यवहार किया जाता है।

सत्ता=अस्तित्व, मौजूदगी। अस्ति=है। काय=शरीर। संव्यवहार=नामकरण।

द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या-

होंति असंखा जीवे, धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविह पदेसा, कालस्सेगो ण तेण सो काओ ।।

एक जीव एवं अधर्म वा
धर्म द्रव्य में एक समान-
असंख्यात संख्यक प्रदेश हैं
यावत् लोकाकाश प्रमाण ।।
कुल नभ में अनंत, पुद्गल में-
संख्यातासंख्यात अनंत ।
मात्र काल है एक प्रदेशी-
अतः नहीं वह कायावंत ।।

भावार्थ---एक जीव में तथा धर्म और अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश होते हैं, सम्पूर्ण आकाश द्रव्य में अनन्त प्रदेश है (किन्तु लोकाकाश असंख्यात प्रदेशों वाला है । मूर्तिक (पुद्गल) द्रव्य में संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं । (पुद्गल के कोई स्कंध संख्यात प्रदेशी कोई असंख्यात और कोई अनन्त प्रदेशी होते हैं) काल द्रव्य अणु अणुरूप विखरा हुआ होने से एक प्रदेशी ही कहा जाता है, अतः वह कायवान् नहीं है ।

द्रव्यों की संख्या पर विचार किया जाये तो लोक में जीव अनन्त है और जीवों से अनन्तगुणी संख्या पुद्गल की है । काल द्रव्य के अणु असंख्यात हैं तथा धर्म-अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य है ।

असंख्यात=जिनकी गणना न हो सके ।
संख्यक=संख्या वाले । प्रदेश=भाग, हिस्से ।
प्रमाण=बराबर ।
कायावंत=कायवान्-जिसके शरीर हो ।

प्रदेश का लक्षण

जावदियं आयासं, अविभागी–पुग्गलाणुवट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे, सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।।

अविभागी पुद्‌गल अणु द्वारा
हो निरुद्ध जितना आकाश–
उसका एक प्रदेश नाम से–
आगम में मिलता आभास ।।
उसमें शक्ति अपरिमित इतनी–
जिससे संख्याता - संख्यात–
वा अनंत अणु भी सुसूक्ष्म बन
अवगाहन पा करें निवास ।।

भावार्थ—आकाश का जितना भाग पुद्‌गल के अखंड परमाणु द्वारा निरुद्ध होता (घेरा जाता) है उतने आकाश के अंश को प्रदेश कहते हैं। उस प्रदेश में पुद्‌गल के संख्यात असंख्यात तथा अनन्त परमाणु भी सूक्ष्मरूप परिणमन व अवगाहन कर समा सकते हैं।

जैसे पानी से मुख तक भरे हुए घड़े में शक्कर या नमक डालने पर पर्याप्त मात्रा में समा जाता है उसी प्रकार एक प्रदेश में अनेक परमाणु समा जाते हैं। परमाणु अन्य परमाणुओं को भी अवगाहन कर अपने में समा लेते हैं।

अविभागी=जिसके भाग या टुकड़े न हो सकें।
निरुद्ध=रोका या घेरा गया।
अपरिमित=वेहद, असीम।
अवगाहन=स्थान।

तृतीय

तत्व प्ररूपणाधिकारः

(२८)

तत्व प्रतिपादन प्रतिज्ञा

आसववंधणसंवर--णिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा, तेवि समासेण पभणामो॥

पुण्य पाप सँग आस्रव संवर
बंध निर्जरा मोक्ष प्रधान-
तत्व प्रयोजन भूत विहित हैं
भगवत् के निर्देश प्रमाण।
ये सब जीवाजीव द्रव्य के-
ही विशेष हैं एक प्रकार।
अति संक्षेप रूप में ये भी
प्रस्तावित हैं निम्न प्रकार॥

भावार्थ--आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्य और पाप ये सभी तत्व जीव एवं अजीव द्रव्यों की ही विशेष अवस्थाएँ हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। उपर्युक्त सातों ही तत्व-भाव तथा द्रव्य रूप में जीव और अजीव के विशेष कहने से तात्पर्य यह है कि भावास्रव, भाव वन्ध, भाव संवर, भाव निर्जरा, भाव मोक्ष-भाव पुण्य एवं भाव पाप तो जीव के विशेष (परिणतियाँ) हैं और द्रव्यास्रव, द्रव्यवन्ध, द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा, द्रव्यमोक्ष, और द्रव्य पुण्य व द्रव्य पाप अजीव (पुद्गल) द्रव्य की कर्म रूप परणतियों से सम्बद्ध हैं।

प्रयोजन भूत=कार्यकारी, मतलब के।
निर्देश=आज्ञा, उपदेश।
प्रस्तावित=प्रस्तुत।

भावास्रव और द्रव्यास्रव

आसवदि जेण कम्मं, परिणामेणप्पणो स विण्णेयो ।
भावासवो जिणुत्तो, कम्मासवणं परो होदि ।।

कर्मों का आस्रव [होता] है–
जिस रागादि भाव के द्वार–
वह सविकारी भाव वस्तुतः
भावास्रव है श्रुत अनुसार ।।
इन भावों से पुद्गलाणु जो
आकर्षित होते बन म्लान–
उनका आकर्षित होता ही
द्रव्यास्रव है सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थ—आत्मा के जिन रागादि भावों के द्वारा कर्म (ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल वर्गणाएँ) अपने प्रति आकर्षित होकर आती है, उन भावों को भावास्रव कहते हैं। तथा पुद्गल कर्मों के आने को द्रव्यास्रव कहते हैं।

जैसे—गर्म लोहे को पानी में डालने पर चारों ओर से पानी का शोषण होता है, उसी प्रकार राग-द्वेषादि कषाय भावों से संतप्त आत्मा के प्रति कर्म वर्गणाएँ आकर्षित होती हैं एवं वे ही श्लेष रूप में बन्ध को प्राप्त हो जाती है। पुद्गल कर्म वर्गणाओं के नवीन कर्म रूप परिणत होने में जीव के रागादि भाव निमित्त कारण हैं और जीव में रागादि भाव की उत्पत्ति पूर्वबद्ध कर्मोदय के निमित्त से होती है। इस प्रकार दोनों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है।

सविकारी=विकार सहित, अशुद्ध।
आकर्षित होते=खिचते।

भावास्रव के विशेष भेद

मिच्छत्ताविरदिपमा--दजोगकोहादओथ विण्णेया ।
पण पण पणदह तिय चदु, कमसो भेदा दु पुव्वस्स ।।

जो मिथ्यात्व अविरमण एवं
योग प्रमाद कषाय प्रधान-
जीवों की परिणतियाँ होतीं-
वे ही हैं भावास्रव म्लान ।।
जिनके क्रमशः पंच-पंच त्रय
पन्द्रह चार भेद निर्धार ।
श्री जिनेन्द्र ने दरशाया है
भावास्रव बत्तीस प्रकार ।।

भावार्थ---मिथ्यात्व (अतत्व श्रद्धा) अविरति (इन्द्रियों के विषयों व पापों में आसक्ति) प्रमाद (मूल व उत्तर गुणों के परिपालन में अनादर भाव) कषाय (क्रोधादि रूप कलुषित भाव) तथा योग (मन-वचन-काय की चंचलता से आत्म प्रदेशों में होने वाली चंचलता) ये पाँच भावास्रव के मूलभेद है । इनके भेद करने पर मिथ्यात्व के एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान में पाँच भेद होते है । हिंसादि पाँच पापों में अभिरुचि ही पाँच प्रकार की अविरति है । ४ विकथा,* ४ कषाय, ५ इन्द्रियों के विषयों में अभिरुचि १ निद्रा १ प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद के भेद हैं । क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें है । मन-वचन-काय की चंचलता से आत्म प्रदेशों में परिस्पंद (हलन-चलन रूप क्रिया) ये तीन प्रकार के योग हैं । इस प्रकार भावास्रव के ३२ भेद हैं ।

विकथा=भोजन कथा, राज कथा, देश कथा, चोर कथा ये ४ हैं ।
कषाय=आत्मा के खोटे भाव जो क्रोधादि रूप होते हैं ।

न द्रव्य भेद

गावरणादीणं, जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
ासवो स णेओ, अणेयभेयो जिणक्खादो ।।

ज्ञानावरणादिक कर्मों की—
विविध प्रकृतियों के अनुरूप—
पुद्गलकर्म वर्गणाओं का
परिणत होकर कर्म स्वरूप
जीवों प्रति आकर्षित होना
द्रव्यास्रव है दुख की खान ।
इसके भेद प्रभेद अनेकों
वर्णित हैं जिन सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों की प्रकृतियों के रूप परिणमन करने की योग्यता रखनेवाली जो पुद्गल कर्मवर्गणाएँ माणुओं के समूह) आत्मा के प्रति (रागादि भावों द्वारा) आकर्षित ो हैं उनका आत्मा की ओर खिंचना ही द्रव्यास्रव है।

द्रव्यास्रव के मूल भेद आठ (ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियाँ) हैं। के भेद करने पर १४८ भेद होते हैं और उनके भी प्रभेद करने पर ंख्यात भेद हो जाते है। ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है।

प्रकृतियों=स्वभावों।
अनुरूप=अनुकूल।
परिणत होकर=रूप ग्रहणकर।

भाव संवर के भेद

वदसमिदीगुत्तीओ, धम्माणुपिहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेयं, णायव्वा भावसंवरविसेसा ।।

व्रत अरु समिति गुप्ति अनुप्रेक्षा–
धर्म परीषहजय चारित्र ।
इन भावों द्वारा ही संवर–
संपादित हो परम पवित्र ।।
संवर सहज प्रवर सुखसाधन–
कर्म निवारण हेतु प्रधान ।
इस द्वारा ही संभव होता
भव संतति का पर्यवसन ।।

भावार्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, धर्म, परीषहजय और चारित्र ये सब भाव संवर के भेद ज्ञातव्य हैं ।

पंच पापों से विरक्त होकर उनका संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत कहलाता है। इससे अशुभ कर्मों का आस्रव रुक जाता है। सावधानी से यत्नाचार पूर्वक कार्य करने को समिति कहते हैं । इससे प्रमादपूर्वक होने वाला कर्मास्रव रुकता है। मन, वचन, काय को वश में करना गुप्ति है। इससे योगों द्वारा होने वाला आस्रव रुकता है। जो आत्मा को दुखों से छुड़ाकर उत्तम सुख-शांति प्रदान करें वह धर्म है । उत्तम क्षमादि के भेद से वह दश प्रकार है। इसके पालन करने से कषाय व विषयों में प्रवृत्ति रुक जाने से तज्जन्य आस्रव भी रुक जाता है । संसार, शरीर व भोगों के स्वरूप का तथा धर्म और आत्मा के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है । इससे संवेग और वैराग्य की वृद्धि होने से संवर होता है। समागत दुखों का समताभाव पूर्वक वीरता से सहन करना परीषह जय है, इससे भी नवीन कर्मों का आस्रव रुकता व निर्जरा भी होती है । आत्म स्वरूप में स्थिर होना चारित्र है, इससे संवर में पूर्णता आती है ।

परीषह=दुख । अनुप्रेक्षा=भावना (बारंबार चिंतन) । प्रवर=प्रमुख, श्रेष्ठ । भवसंतति=संसार की जन्म मरण परंपरा । पर्यवसान=परिपूर्ण निवृत्ति, नाश ।

निर्जरा का स्वरूप व भेद

जहकालेण तवेण य, भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया, तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥

भोग लिया जिन कर्मों का फल—
यथा समय सुख-दुःख स्वरूप
क्षय हो उनका जिन भावों या
तपश्चरण कर नानारूप—
उन भावों को भाव निर्जरा—
संज्ञा है जिन वचन प्रमाण—
कर्म-झरण है द्रव्य निर्जरा
एवं द्विविध निर्जरा जान ॥

भावार्थ—आत्मा से बँधे हुए पुद्गल कर्मों का फल भोग लेने पर जिन भावों से उनका क्षय (आत्मा से पार्थक्य) होता है उन भावों को तथा तपश्चरण द्वारा (कर्म स्थिति पूर्ण हुए बिना ही) उनका (कर्मों का) जिन भावों से क्षय होता है उन भावों को भावनिर्जरा कहते हैं तथा आत्मा से उनका क्षय (दूर) हो जाना द्रव्य निर्जरा है। इस प्रकार निर्जरा दो प्रकार की होती है।

कर्मों का फल देकर दूर होना सविपाक निर्जरा कहलाती है और तपश्चरण द्वारा कर्मों को बिना फल दिये ही दूर होना अविपाक निर्जरा है। अविपाक निर्जरा ही मुक्ति का साधन है—जो मुनिराज करते हैं। सविपाक निर्जरा तो समस्त संसारी जीवों के सदा ही हुआ करती है, किन्तु कर्म-फल भोगते हुए जीव उनके सुख-दुःख रूप फलों में राग-द्वेष कर नवीन कर्मों का बन्ध करता रहता है, जिससे मुक्ति प्राप्त नहीं हो पाती।

मोक्ष का स्वरूप व भेद

सव्वस्स कम्मणो जो, खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेओ स भावमोक्खो, दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो ।।

जिस शुचिता सम्पन्न भाव से-
बंधन का कर पर्यवसान-
जीव कर्म मल से विमुक्त हो-
शुद्ध बने परिपूर्ण महान-
भाव मोक्ष है वही वस्तुतः
वीतराग परणति अमलीन ।
सकल कर्म बंधन निवृत्ति ही-
द्रव्य मोक्ष है अन्तविहीन ।।

भावार्थ—सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने में आत्मा का जो भाव कारण है उसे भाव मोक्ष कहते हैं एवं आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना द्रव्य मोक्ष कहलाता है ।

भाव कर्म, द्रव्य कर्म और नो कर्म के भेद से कर्म तीन प्रकार के हैं । आत्मा के राग-द्वेषादि भावों को भाव कर्म कहते हैं । ज्ञानावरणादि रूप परिणत आत्मा से बन्धे हुए पुद्गल परमाणुओं को द्रव्य कर्म कहते हैं । शरीरादि को नो कर्म कहा गया है । इन सभी प्रकार के कर्मों से आत्मा का छुटकारा होकर शुद्ध परमात्म दशा का प्राप्त हो जाना ही मोक्ष है, जिसके पश्चात् आत्मा अनन्त सुख का उपभोग करता हुआ सदाकालस्वरूप में निमग्न बना रहता है ।

शुचिता=पवित्रता । पर्यवसान=विनाश । अमलीन=अशुद्ध ।
निवृत्ति=मुक्ति । अंतविहीन=शाश्वत ।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

जीवादीसद्दहणं, सम्मत्तं रूपमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं, णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ।।

जीवाजीवादिक तत्वों का-
ज्यों का त्यों करना श्रद्धान-
सम्यग्दर्शन है— निजात्म का-
ही स्वरूप वा सुगुण प्रधान ।।
जिसके प्रकट हुए हो जाता-
सहज भ्रांतियों का अवसान-
अंतस् में जिससे परिणमता
सम्यक् वन कर मिथ्याज्ञान ।।

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तथा पुण्य-पाप इन नव तत्वों का जैसा का तैसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह आत्मा का ही स्वरूप है। इसके प्रकट हो जाने पर आत्मा में विद्यमान ज्ञान-जोकि मिथ्या रूप परिणमन कर रहा है—सम्यक् रूप परिणत हो जाता है। जैसे अनेक शून्य विना अंक के मूल्य हीन होते है और वे ही शून्य उनके आगे एक अंक जोड़ देने पर मूल्यवान हो जाते है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन विना ज्ञान मिथ्या और आत्महित की दृष्टि से मूल्यहीन ही वना रहता है, किन्तु सम्यग्दर्शन के प्रकट होते ही वह सम्यग्ज्ञान वन जाता है। तत्वों की यथार्थ श्रद्धा के विना सारा ज्ञान ...ा कहा जाता है; क्योंकि तत्व-श्रद्धा विना ज्ञान संसार परिभ्रमण ...ारण ही वना रहता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव संसार के इन्द्रियजन्य ...य भोगों में ही सुख की भ्रान्त कल्पना करता हुआ यथार्थ ज्ञान से ...्यु वना रहने के कारण आत्मा के ज्ञानानन्द मयी स्वरूपज्ञान को प्राप्त होकर दुखी वना रहता है।

भ्रांतियों=मिथ्या मान्यताओं, भ्रमों।
अंतस्=आत्मा, अन्तरंग।
अवसान=अन्त।
परिणमता=परिवर्तित होता।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

संसयविमोहविब्भम-विवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मं णाणं, सायारमणेयभेयं च ॥

संशय विभ्रम मोह विवर्जित
संपादित हो जो विज्ञान
स्वपर अर्थ साकार प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान वही अम्लान ॥
जिसके मति श्रुत, अवधि तथा—
मनपर्यय एवं केवलज्ञान—
वा प्रत्यक्ष परोक्ष भेद द्वय
प्रतिपादित हैं सूत्र प्रमाण ॥

भावार्थ—संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित तथा आकार सहित अपने एवं पदार्थों के स्वरूप का जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है । इसके मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यय और केवल ज्ञान ये पाँच भेद हैं । तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से यह दो प्रकार भी कहा जाता है ।

इसके सिवाय उक्त भेदों के भी भेद करने पर सम्यग्ज्ञान के अनेक भेद हो जाते हैं ।

संशय—संदेहयुक्त ज्ञान को कहते हैं । **विभ्रम**—विपरीत ज्ञान को कहते हैं । **विमोह**—अनध्यवसाय-अस्पष्ट या धुंधले ज्ञान को कहते हैं ।

साकार—आकार सहित ।
प्रत्यक्ष - आत्मिक स्पष्ट ज्ञान ।
परोक्ष—इन्द्रिय मन की सहायता से होने वाला अस्पष्ट ज्ञान ।

दर्शनोपयोग का स्वरूप

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णए समये ।।

दर्शन है सामान्यतया जो-
निर्विशेष आकार विहीन-
अर्थों का अवलोकन करता-
रम्यारम्य कल्पनाहीन ।।
यह दर्शन सम्यग्दर्शन वा
ज्ञान भिन्न है सूत्र प्रमाण ।
इसका लक्षण अवलोकन है
सम्यग्दर्शन का श्रद्धान ।।

भावार्थ—जो पदार्थों के आकार एवं विशेषताओं को ग्रहण न कर सामान्यतया सत्ता मात्र का अवलोकन करता है वही दर्शन या दर्शनोपयोग कहलाता है। ज्ञानोपयोग वस्तु के आकार व विशेषता सहित पदार्थों को जानता है। तथा सम्यग्दर्शन का विषय-श्रद्धान करना है। अतः दर्शनोपयोग को सम्यग्दर्शन व ज्ञान से भिन्न लक्षण वाला होने के कारण उनसे भिन्न ही कहा गया है।

निर्विशेष=विशेषता रहित। रम्यारम्य=सुन्दर-भद्दा।

दर्शन व ज्ञानोपयोग की उत्पत्ति क्रम

दंसणपुव्वं णाणं, छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा ।
जुगवं जम्हा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि ॥

छद्मस्थों को समुत्पन्न हो-
जो साकार वस्तु का ज्ञान ।
वह दर्शनपूर्वक ही होता-
उनकी सीमित शक्ति प्रमाण ॥
अल्पज्ञों को नहिं होते हैं
युगपत दो उपयोग, प्रवीण !
किन्तु केवली के वे युगपत
समुत्पन्न हों सर्वाङ्गीण ॥

भावार्थ—छद्मस्थों (अल्प ज्ञानियों) को होने वाला ज्ञान, दर्शनपूर्वक ही होता है, क्योंकि उनके दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते । पूर्व में पदार्थ की सत्ता मात्र का आभास होता है जो निर्विशेष व निराकार होने से दर्शन कहलाता है, इसके पश्चात् काला-पीला या गोल चौकोर आदि आकारों सहित पदार्थों का ज्ञान होता है जिसे ज्ञानोपयोग कहते हैं । किन्तु केवली भगवान् के दर्शन व ज्ञान दोनों ही उपयोग दर्शनावरण के क्षय हो जाने से एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि सामान्य विशेषात्मक पदार्थों का दर्शन व ज्ञान केवली के क्रमशः पूर्व और उत्तरवर्ती क्षणों में मानने पर वे दर्शनोपयोग के समय ज्ञान न होने से सर्वज्ञ नहीं ठहरेंगे । जबकि वे अनंत पदार्थों को एक साथ देखते व जानते हैं ।

छद्मस्थ=अल्पज्ञ, साधारण ज्ञानी ।
युगपत=एक साथ । केवली=केवल ज्ञानी भगवान् ।

सम्यक्चारित्र का व्यावहारिक लक्षण

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं, ववहारणया दु जिणभणियं ॥

अशुभ भाव-युक्त प्रवृत्ति तज
करना शुभ आचार विचार—
है सम्यक्चारित्र जिन कथित—
प्रतिपादन करता व्यवहार ॥
यह व्रत समिति गुप्ति रूप है
श्री जिनेन्द्र के वचन प्रमाण ।
जो निश्चय चारित्र साधना—
में करता सहकार प्रदान ॥

भावार्थ—अशुभ भावों एवं पाप क्रियाओं से निवृत्त होकर शुभ भावपूर्वक सदाचार में प्रवृत्ति करना व्यवहार चारित्र कहलाता है। यह व्यवहार चारित्र व्रत समिति और गुप्ति रूप है। हिंसादि पांच पापों से विरक्त होकर उनका संकल्पपूर्वक त्याग करने को व्रत कहते हैं। जीवों के संरक्षण का ध्यान रखते हुए यत्नाचारपूर्वक सावधानी से प्रवृत्ति (काम) करने को समिति कहते हैं। मन, वचन, काय को अपने वश में रखने को गुप्ति कहते हैं।

यह पंच व्रत पंच समिति तीन गुप्ति रूप व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र का—जो कि शुद्धोपयोगमयी स्वरूपाचरण रूप है—निश्चयत् साधक होता है। व्रत, समिति, गुप्ति रूप चारित्र का भलीभांति पालन किये बिना स्वरूप लीनता असंभव है। दूसरे शब्दों में हिंसादि पाप रूप प्रवृत्ति अथवा अयत्नाचारपूर्वक मन, वचन, काय की स्वच्छंद प्रवृत्ति के रहते हुए स्वरूपाचरण रूप निश्चय चारित्र का हो जाना संभव नहीं। अतः व्यवहार चारित्र को जिनेन्द्र भगवान् ने धर्म कहा है।

[illegible]

बहिरब्भंतरकिरिया--रोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं, तं परमं सम्मचारित्तं ॥

भव कारण है जो कि वस्तुतः
राग-द्वेष परिणाम विकार ।
उनके नाश हेतु मन-वच तन
क्रिया रोध कर अंगीकार-
आत्मलीन होना ज्ञानी का
है निश्चय चारित्र, प्रवीण !
जिसके संधारण से होता
चिरकालीन कर्म मल क्षीण ॥

भावार्थ-मन-वचन-काय- के शुभाशुभ व्यापारों द्वारा होने वाला आस्रव बन्ध ही संसार परिभ्रमण का मूल कारण है । अतः इसका नाश करने हेतु वीतराग ज्ञानी पुरुषों का बाह्य शुभाशुभ वचन व काय की क्रिया रूप व्यापारों तथा अभ्यंतर मनोव्यापारों (संकल्प विकल्पों) का परित्याग कर साम्य भाव साधारणपूर्वक आत्म स्वरूप में लीन होना निश्चय चारित्र कहलाता है । इसे ही वीतराग चारित्र तथा शुद्धोपयोग या स्वरूपाचरण चारित्र भी कहते हैं । मुक्ति महल में प्रवेश करने का एकमात्र यही द्वार है जिस तक पहुंचने का व्यवहार चारित्र साधन है ।

क्रिया-रोध=चंचलता को रोकना ।
अंगीकार=स्वीकार ।
संधारण=भलीभांति धारण करना ।

४६ द्रव्यसंग्रह-[illegible]

ध्यानाभ्यास की उपयोगिता एवं प्रेरणा

दुविहंपि मोक्खहेउं, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता, जूयं झाणं समब्भसह ।।

निश्चय या व्यवहार मुक्ति पथ
जीवन में मुनिजन निर्भ्रान्त-
यतः नियम से ध्यान द्वार हो-
करते हैं संप्राप्त नितांत ।।
अतः सुरुचि युत सत्प्रयत्न कर-
करें आप भी ध्यानाभ्यास ।
संसृतिजन्य दुःखों का जिससे
हो जावे परिपूर्ण विनाश ।।

भावार्थ—व्यवहार और निश्चय नय द्वारा निर्दिष्ट उल्लिखित दोनों प्रकार का मुक्ति मार्ग चूंकि ध्यान के द्वारा ही मुनिजन संपादन करते हैं, अतः आप भी शक्ति भर प्रयत्न कर (मन लगाकर) ध्यान करने का अभ्यास करें ।

आचार्य श्री की भव्य जीवों को यह सारभूत सत्प्रेरणा है, क्योंकि ध्यानाभ्यास द्वारा ही मानव मुक्ति पथ की ओर अग्रसर हो कर्म बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर परमात्मा पद पाने में समर्थ हो सकता है ।

निर्भ्रान्त=निःसंदेह ।
संसृतिजन्य=सांसारिक ।

मंत्रों के माध्यम से ध्यान को स्थिर करने का निर्देश

पणतीस सोल छप्पण, चदु दुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं, अण्णं च गुरुवएसेण ।।

पैंतिस अक्षर निर्मित पावन
नमस्कार वर मन्त्र प्रधान-
षोडस षड वा पंच, चार, दो-
एकाक्षर निर्मित अम्लान
परमेष्ठी वाचक जो भी हैं
अन्य मंत्र गुरु वचन प्रमाण-
उन्हें जपो वा ध्यान करो नित-
अन्तस् में बन निष्ठावान् ।।

भावार्थ—पंच परमेष्ठी के वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो, व एक अक्षरों से निर्मित पंच परमेष्ठी के वाचक जो मंत्र हैं उनका तथा गुरु के उपदेश से अन्य मंत्रों का भी जाप और ध्यान (मन स्थिर करने के लिए) करना चाहिए।

पैंतीस अक्षरों का मंत्र–णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं,
णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं,
णमो लोएसव्व साहूणं ।

सोलह अक्षरों का मंत्र–अरहंत सिद्ध आइरिया उवज्झाया साहू ।

छह अक्षरों का मंत्र –अरहंत सिद्ध, अरहंतसिसा ।

पाँच अक्षरों का मंत्र –असिआउसा ।

चार अक्षरों का मंत्र –अरहंत, असिसाहू ।

दो अक्षरों का मंत्र –सिद्ध, अर्हं ।

एकाक्षरी मंत्र –ॐ, ह्रीं ।

निर्मित=बना हुआ। षोडस=सोलह।
षड्=छह। निष्ठावान्=आस्था या श्रद्धा रखने वाला।

अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप

णट्ठचदुघाइकम्मो, दंसणसुहणाणवीरियमइओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा, सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ।।

परम ध्यान बल किया जिन्होंने-
घातिकर्म मल का अवसान-
प्रकटा जिससे सौख्य अपरिमित-
शक्ति असीम सुदर्शन-ज्ञान ।
परमौदारिक काया संस्थित-
सप्त धातु उपधातु विहीन-
वे अरहंत सकल परमातम-
ध्येय विहित हैं अँतर्लीन ।।

भावार्थ---जिन्होंने आत्मगुण विघातक ज्ञानावरण-दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों का नाश कर अनन्त ज्ञान-दर्शन तथा अनन्त सुख और वीर्य को अभिव्यक्त कर आत्मा को परमात्मा बना लिया है एवं जो परम-औदारिक शरीर में संस्थित है ऐसे अर्हंत भगवान् को आदर्श मान कर उनका ध्यान करना चाहिए । (रुधिर मांस अस्थि आदि सप्त धातुओं से रहित शरीर को परम-औदारिक काय (शरीर) कहते हैं। केवलज्ञान आदि गुणों की अभिव्यक्ति के साथ ही उक्त धातुएं स्वयमेव ही विलय को प्राप्त होने से शरीर स्फटिक के समान निर्मल हो जाता है, यह अतिशय विशेष अर्हंत अवस्था में नियम से प्रकट होता है) ।

सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप

णट्ठट्ठकम्मदेहो, लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा, सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥

वसु कर्मों से मुक्त-देह बंधन
से भी परिमुक्त नितांत-
लोकालोक सकल ज्ञेयों के-
ज्ञाता दृष्टा विभु सर्वान्त ॥
जिनका चरम देह से किंचित्-
न्यून विहित है पुरुषाकार ।
लोक शिखर संस्थित विभुवर वे
सिद्ध ध्येय हैं विगत विकार ॥

भावार्थ---जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठों कर्मों तथा शरीरादि कर्मों के विनाश द्वारा सदा के लिये सम्पूर्ण बंधनों से मुक्ति प्राप्त कर है और लोक व अलोक स्थित परिपूर्ण पदार्थों के साक्षात् ज्ञाता व दृष्टा एवं जिनका आकार पुरुषाकार होते हुए चरम शरीर से किंचित् न्यून हो है तथा जो लोक शिखर पर विराजमान हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा का ध्य करना चाहिये ।

ज्ञेयों=पदार्थों । सर्वान्त=सम्पूर्ण गुणों सहित ।
चरम देह=अन्तिम शरीर । न्यून=कम । किंचित्=थोड़ा सा ।
विगत-विकार=दोप रहित ।

आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप

दंसणणाणपहाणे, वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ, सो आयरिओ मुणी झेओ ॥

दर्शन-ज्ञान प्रधान वीर्य, तप,
वर विशुद्ध चारित्राचार–
पंचाचार साधना रत रह–
शिष्यों को भी दें सहकार
सर्व संघ अधिपति वे मुनिवर,
हों निर्ग्रन्थाचार्य प्रवीण ।
ज्ञानीजन को परम् ध्येय हैं
कर्म कालिमा करने क्षीण ॥

भावार्थ—दर्शनाचार और ज्ञानाचार्य है प्रधान जिनमें–ऐसे वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार इन पाँचों आचारों के परिपालन में जो स्वयं तत्पर रहते हैं तथा अन्य भव्य जनों को भी इनका पालन करने में प्रेरणा व योगदान देते हैं वे निर्ग्रन्थ मुनिराज ही आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं, जो ध्यान करने योग्य हैं, जिनका ध्यान आत्मा से कर्म कालिमा को नष्ट करने में परम सहायक होता है।

दर्शनाचार=सम्यदर्शन का सर्वाङ्ग पालन करना।
ज्ञानाचार=शास्त्राभ्यास करना।
वीर्याचार=आत्मबल प्रकट कर दुःखों को समता भाव पूर्वक सहन करना, कायरता न दिखाना।
तपाचार=बारह प्रकार के तप करना।
चारित्राचार=सामायिक आदि चारित्र के भेदों का भलीभांति पालन करना।
अधिपति=स्वामी।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

जो रयणत्तयजुत्तो, णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो ।
सो उवज्झाओ अप्पा, जदिवरवसहो णमो तस्स ।।

सम्यग्दर्शन ज्ञान और-
चारित्र रत्न हैं सर्व प्रधान
जिनसे स्वयं विभूषित हो नित
दें धर्मोपदेश अम्लान ।।
वे यतियों में श्रेष्ठ विज्ञवर-
उपाध्याय हैं सुगुरु महान।
इन्हें नमन है परमध्यान वा
संवर्द्धन - हित सम्यग्ज्ञान ।।

भावार्थ–जिनकी आत्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र स्वरूप रत्नत्रय धर्म से संयुक्त हैं तथा जो निरन्तर धर्मोपदेश द्वारा शिष्यों का अज्ञान विनष्ट करने में तत्पर हैं वे यतियों में श्रेष्ठ साधु पुरुष उपाध्याय कहलाते हैं। उन्हें नमस्कार। (शास्त्रों का पठन-पाठन उपाध्याय परमेष्ठी की विशेषता है) ।

सम्वर्द्धन=वृद्धि

[illegible]

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥

है दर्शन [illegible]
[illegible]

जिसको सतत साधना रत रह--
करते स्वानुभूति रसपान ।।

वे मुनि हो [illegible] सहित हैं--
मुक्तिमार्ग भी वे साकार ।

उन चरणों में भक्ति पुरस्सर--
नमस्कार मम बारंबार ।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और ज्ञान से समग्र (युक्त) सम्यक्चारित्र ही मुक्ति का मार्ग है और इस पवित्र मार्ग की जो निरन्तर साधना में निरत है वही साधु है। ऐसे साधु परमेष्ठी को हमारा बारम्बार नमस्कार है !

आचार्य व उपाध्याय भी साधु ही होते हैं, परन्तु उनका पद साधुओं के पद से अनेक विशेषताओं के कारण ऊँचा माना गया है। यहाँ साधु से तात्पर्य उन निर्ग्रन्थ मुनियों से है जो सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह से रहित वीतरागता के पथ पर आरूढ़ हैं तथा विषय-कषायों से दूर रहकर ज्ञान-ध्यान और तप में सदा लीन बने रहकर आत्म साधना में लगे रहते हैं।

समग्र=परिपूर्ण । पुरस्सर=पूर्वक ।

निश्चय-ध्यान का स्वरूप

जं किंचिवि चिंतंतो, णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूणय एयत्तं तदा हु तं तस्स णिच्चयं झाणं ।।

जब सुस्थिर एकाग्र चित्तकर
निष्पृह वृत्ति, संग परिहीन–
साधु पुरुष अंतस् में कुछ भी
चिंतन में होता संलीन ।।
उसका वह पावन चिंतन ही
प्रतिपादित है निश्चय ध्यान
विषय कषाय वंचना पूर्वक–
वीतरागता हेतु महान

भावार्थ— जब साधु पुरुष निरीहवृत्ति (सम्पूर्ण परिग्रहों एवं विषयों की चाह से रहित) होकर एकाग्र चित्त से किसी भी द्रव्य गुण या पर्याय को लक्ष्य बनाकर उस का चिंतन करता है तब वह उसका वह ध्यान (चिंतन) निश्चय ध्यान कहलाता है ।

प्रारम्भ में साधक चित्त को स्थिर करने के लिये सांसारिक विकल्पों का त्याग कर शुद्ध आदर्श स्वरूप पंच परमेष्ठियों का ध्यान करता है । शनैः शनैः सविकल्प दशा से निर्विकल्प दशा को प्राप्त होकर अन्त में आत्मस्वरूप में लीन होने का प्रयत्न करता है ।

निष्पृह वृत्ति=किसी वस्तु की चाह रहित ।
संग परिहीन=परिग्रह रहित ।

परमध्यान का स्वरूप

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ।।

तन से बन निश्चेष्ट न कुछ भी
क्रिया करो बन विरत विकार ।
मुख से मौन ग्रहण कर मन में-
भी न करो कुछ सोच-विचार
परम साम्य अवलंब्य सुरुचियुत
करना स्वानुभूति रस-पान
आत्मलीनता यह समग्रतः
परम ध्यान है सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थ---न तो शरीर से कुछ चेष्टा करो और न मुख से कुछ बोलो, इस प्रकार शरीर व वचन की चेष्टाओं को वश करते हुए मन में भी किसी वस्तु का चिंतन मत करो जिससे सांसारिक सम्पूर्ण विकारों (संकल्प विकल्पों) से मुक्त हुआ आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर हो जावे । यही वस्तुतः परमध्यान कहलाता है ।

योगी जन इस निर्विकल्प परम (शुद्ध) ध्यान के द्वारा ही कर्म बंधनों से विमुक्त होकर असीम आत्मिक स्वाभाविक सुख के पात्र होते हैं--निर्वाण पाते हैं ।

निश्चेष्ट=चेष्टा रहित होकर ।
विरत विकार=रागादि रहित होकर ।
अवलंब्य=ग्रहण कर । आलंबन (सहारा) लेकर ।
समग्रतः=पूर्णतया ।

तप श्रुत व्रत की ध्यान की सिद्धि हेतु अनिवार्यता एवं प्रेरणा

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा, तल्लद्धीए सदा होह ॥

तप श्रुत व्रत संयुत ही संयत-
कर एकाग्र चित्त अम्लान-
ध्यान धुरा धारण करने की
पाता है सामर्थ्य महान ॥
अतः ध्यान संसिद्धि हेतु तुम
सावधान रह सतत प्रवीण !
तप श्रुत व्रत रत रहो यत्नतः
होकर विषय कषाय विहीन ॥

भावार्थ—भव्यजनो !

तपश्रुत और व्रत सहित आत्मा ही ध्यान रूपी रथ की धुरा को धारण करने में समर्थ होता है अतः ध्यान की सिद्धि हेतु आप तप, श्रुत और व्रतों में सदा तत्पर होओ।

जो तपस्वी (कष्ट सहिष्णु) न होगा वह तनिक सी भी विघ्न-बाधा या परीषह के आने पर ध्यान से विचलित हो जायेगा। इसी प्रकार जो श्रुत (शास्त्रों का अभ्यास कर भाव श्रुत ज्ञान को प्राप्त न करेगा वह तत्व ज्ञान के अभाव में धर्म और शुक्ल ध्यान करने का पात्र न हो सकेगा। ऐसे ही जो हिंसादि पापों के त्याग रूप व्रतों का धारक न होगा वह पाप वासना में निरत रहकर आर्त्त-रौद्र परिणामों द्वारा संसार का पात्र ही बना रहेगा। मोक्ष के कारण भूत धर्म-शुक्ल ध्यान का नहीं। अतः आत्म कल्याणकारक ध्यान की सिद्धि के लिये तप श्रुत व्रत में तत्पर रहना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

संयुक्त=सहित। संयत=संयमी।
यत्नतः=प्रयत्नपूर्वक।

परमध्यान का स्वरूप

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ।।

तन से बन निश्चेष्ट न कुछ भी
क्रिया करो बन विरत विकार ।
मुख से मौन ग्रहण कर मन में-
भी न करो कुछ सोच-विचार
परम साम्य अवलंब्य सुरुचियुत
करना स्वानुभूति रस-पान
आत्मलीनता यह समग्रतः
परम ध्यान है सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थ--न तो शरीर से कुछ चेष्टा करो और न मुख से कुछ बोलो, इस प्रकार शरीर व वचन की चेष्टाओं को वश करते हुए मन में भी किसी वस्तु का चिंतन मत करो जिससे सांसारिक सम्पूर्ण विकारों (संकल्प विकल्पों) से मुक्त हुआ आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर हो जावे । यही वस्तुतः परमध्यान कहलाता है ।

योगी जन इस निर्विकल्प परम (शुद्ध) ध्यान के द्वारा ही कर्म बंधनों से विमुक्त होकर असीम आत्मिक स्वाभाविक सुख के पात्र होते हैं--निर्वाण पाते हैं ।

निश्चेष्ट=चेष्टा रहित होकर ।
विरत विकार=रागादि रहित होकर ।
अवलंब्य=ग्रहण कर । आलंबन (सहारा) लेकर ।
समग्रतः=पूर्णतया ।

तप श्रुत व्रत की ध्यान की सिद्धि हेतु अनिवार्यता एवं प्रेरणा

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा, तल्लद्धीए सदा होह ।।

तप श्रुत व्रत संयुत ही संयत-
कर एकाग्र चित्त अम्लान-

ध्यान धुरा धारण करने को
पाता है सामर्थ्य महान ।।

अतः ध्यान संसिद्धि हेतु तुम
सावधान रह सतत प्रवीण !

तप श्रुत व्रत रत रहो यत्नतः
होकर विषय कषाय विहीन ।।

भावार्थ—भव्यजनो !

तपश्रुत और व्रत सहित आत्मा ही ध्यान रूपी रथ की धुरा को धारण करने में समर्थ होता है अतः ध्यान की सिद्धि हेतु आप तप, श्रुत और व्रतों में सदा तत्पर होओ ।

जो तपस्वी (कष्ट सहिष्णु) न होगा वह तनिक सी भी विघ्न-बाधा या परीषह के आने पर ध्यान से विचलित हो जायेगा । इसी प्रकार जो श्रुत (शास्त्रों का अभ्यास कर भाव श्रुत ज्ञान को प्राप्त न करेगा वह तत्व ज्ञान के अभाव में धर्म और शुक्ल ध्यान करने का पात्र न हो सकेगा । ऐसे ही जो हिंसादि पापों के त्याग रूप व्रतों का धारक न होगा वह पाप वासना में निरत रहकर आर्त्त-रौद्र परिणामों द्वारा संसार का पात्र ही बना रहेगा । मोक्ष के कारण भूत धर्म-शुक्ल ध्यान का नहीं । अतः आत्म कल्याणकारक ध्यान की सिद्धि के लिये तप श्रुत व्रत में तत्पर रहना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है ।

संयुक्त=सहित । संयत=संयमी ।
यत्नतः=प्रयत्नपूर्वक ।

ग्रन्थकर्ता का विनम्र निवेदन

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा, दोससंचयजुदा सुदपुण्णा ।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण, णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ।।

स्वल्प सूत्रविद् नेमिचन्द्र मुनि-
ग्रंथ द्रव्य-संग्रह अभिधान-
नय, प्रमाण जिन सूत्र पुरस्सर
गूँथा सहज स्वपर हित जान
बहु श्रुतवंत संत जन शोधें
त्रुटियाँ हों तो सूत्र प्रमाण ।
अनेकांत सिद्धान्त समन्वित
जिन श्रुत करहु विश्व कल्याण !

भावार्थ---अल्प ज्ञानी मुझ नेमिचन्द्र मुनि (मूल ग्रंथ कर्ता) ने इस द्रव्य संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की है, यदि इसमें त्रुटियां (अशुद्धियां) किसी भी प्रकार की दिखाई दें तो वीतराग सन्त (जिनका ज्ञान और भावना पवित्र है) उन्हें दूर कर संशोधन करने का कष्ट स्वीकार करें।

ग्रन्थकर्ता आचार्य श्री ने श्रुतज्ञ होते हुए भी इस अन्तिम गाथा में लघुता प्रदर्शित कर अपनी महानता का परिचय दिया है। वस्तुतः जिनवाणी ऐसे निष्पक्ष और वीतराग सन्तों के माध्यम से ही अभी तक अक्षुण्ण बनी हुई हैं।

इति श्रीमोक्षमार्गाधिकार

इति श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य विरचित (प्राकृत भाषा में) द्रव्य संग्रह मूल तथा नाथूराम डोंगरीय न्यायतीर्थ द्वारा हिन्दी भावार्थ सहित उसका पद्यानुवाद समाप्त हुआ। शुभं भूयात् ।।

स्वल्प=कम।
सूत्रविद्=शास्त्रों का ज्ञाता।
अभिधान=नाम।
पुरस्सर=सहित।
बहुश्रुतवंत=बहु ज्ञानी।
त्रुटियां=अशुद्धियां।
समन्वित=युक्त।